श्रीमद्भगवद्गीता

का

शुद्ध सरल और सरस छन्दों में प्रतिश्लोकी अनुवाद

श्री हरि गीता

अनुवादक—श्री पं० दीनानाथ भार्गव दिनेश

संशोधक—म०म० श्री पं० हरनारायण शास्त्री विद्यासागर

नवां संस्करण — सम्वत् २०१८ — मूल्य २)७५





त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये ।

प्रथम संस्करण	...	सन् १९३७
द्वितीय संस्करण	...	सन् १९४२
तृतीय संस्करण	...	सन् १९४५
चतुर्थ संस्करण	...	सन् १९४७
पंचम संस्करण	...	सन् १९५०
छठा संस्करण	...	सन् १९५२
सातवां संस्करण	...	सन् १९५५
आठवां संस्करण	...	सन् १९५९
नवां संस्करण	...	सन् १९६२

प्रकाशक—
मानवधर्म कार्यालय
पीपल महादेव, दिल्ली—६

मुद्रक—
जमना प्रिंटिंग वर्क्स
दिल्ली ।

विद्वानों और नेताओं

द्वारा प्राप्त

卐 प्रशंसा-प्रसाद 卐

राष्ट्रपति श्री डा० राजेन्द्रप्रसाद

पं० दीनानाथ दिनेश की लिखी हुई पुस्तकें और उनका कार्य देखकर मुझे विशेष आनन्द और सन्तोष हुआ।

धर्म की सेवा और सत्साहित्य के प्रसार का जो मार्ग दिनेश जी ने चुना है वह सराहनीय है। रेडियो द्वारा गीता-प्रवचनों, जन-समूह में व्याख्यानों, कथाओं, पुस्तकों के लेखन एवं प्रकाशन और 'मानवधर्म' के सम्पादन से दिनेश जी देश और धर्म की सच्ची सेवा कर रहे हैं।

'मानवधर्म कार्यालय' के कुछ प्रकाशन मैंने देखे, उनमें जीवन के विकास और चरित्र-निर्माण के लिये बड़े काम की सामग्री रहती है।

मैं 'मानवधर्म कार्यालय' की अभिवृद्धि और उन्नति चाहता हूँ।

राजेन्द्र प्रसाद

सम्माननीय श्री डा० पट्टाभि सीतारमय्या

……It is a real education in this era of degenerate tastes to come across a poet, author and speaker like Pandit Dinesh who while yet only 40, has published twenty-two volumes relating to ancient culture including a melodious and poetical rendering of the Gita in Harigit style, One must only hear him recite in original and in translation the song of the Lord and expound it in his own inimitable way, to have a correct conception of his attainments and to lose oneself in transports of ecstacy.

It is with added joy that I learn he has already completed his commentary on the Gita which will undoubtedly prove to be the crowning glory of the series of his publications under the denomination of the MANAVA DHARMA KARYALAYA.

This author and artist has not merely a bright but a noble future before him—bright because of his rich talents and noble because of his selfless services.

B. Pattabhi Sitaramayya
President,
Indian National Congress

20-12-49



सम्माननीय श्री ग. वा. मावलंकर
अध्यक्ष भारत लोकसभा

पं० दीनानाथ दिनेश से मेरा परिचय १६४६ में दिल्ली आने के बाद हुआ। उनकी गीता पढ़ने की व समझाने की शैली से मुझे उनके प्रति आकर्षण हुआ। उनका ज्ञान बहुत ही मधुर है।

उन्होंने गीता का अनुवाद हरिगीतिका छन्द में किया है, वह सरल सादा और प्रासादिक है। इसका पठन जब वे करते हैं तब गान-प्रवाह, कर्ण-मधुरता और सहजता से श्रोताओं को मुग्ध कर लेता है।

उनकी सब प्रवृत्तियां गीताधर्म के प्रचार के लिये ही हैं। 'मानवधर्म' मासिक पत्र का प्रकाशन और इसी कार्यालय से प्रकाशित पुस्तकें बहुत ही उद्बोधक और उपयोगी हैं।

उनका गीताभाष्य तीन खण्डों में प्रकाशित हुआ है। गीता का यह भाष्य स्वराज्य में ज्ञान और कर्म की प्रेरणा देने के लिये उपयोगी सिद्ध होगा।

पंडित दिनेश जी की ये सब प्रवृत्तियां सांस्कृतिक और राष्ट्र-हितैषी हैं। मैं उनकी सफलता चाहता हूँ।

ग. वा. मावलंकर

माननीय श्री मोहनलाल सक्सेना

सेवा निवृत्त मन्त्री— पुनर्वास-विभाग केन्द्रीय सरकार नई दिल्ली

पं० दीनानाथ जी दिनेश ने गीता का सरल और रोचक छन्दों में अनुवाद करके जनता का बड़ा उपकार किया है और मुझे विश्वास है कि तुलसीकृत रामायण की तरह इसे भी जनता अपनायेगी।

मोहनलाल सक्सेना



Pandit Dina Nath Dinesh has been well-known as one of the most successful broadcasters on the Gita. His Hindi translation of the Gita has been deservedly popular on account of the chaste, simple and accurate language. What is however more important, is that the Harigitmetre that he uses, lends itself to musical recitation of which Pandit Dinesh is such a master.

It is a book which can be confidently recommended to all those who cannot read the Gita in the original Sanskrit.

N. C. MEHTA
Chief Commissioner,
Himachal Pradesh.



13 - कैनिङ् लेन -
नई दिल्ली -
५ - ४ - १९३८

श्री दीनानाथ जी 'दिनेश' ने, अपना
रचा हुआ, 'हरिगीतिका' छंद में पद्या-
नुवाद, हिन्दी भाषा में, भगवद्गीता
का, कृपा करके मुझको सुनाया -
कई अध्यायों के अंश सुनके -
बहुत आनंद आया - कान को
प्यारे, मूल के अर्थ के सच्चे, बहुत
परिश्रम और विचार से शब्द चुने
गये हैं - मैं आशा करता हूं कि
इस नये अनुवाद का अधिक प्रचार
होगा -

भगवानदास

महामहोपाध्याय सर डा० गंगानाथ जी झा

एम० ए० डी० लिट्० एल० एल० डी०

भूतपूर्व वाइस चान्सलर इलाहाबाद यूनिवर्सिटी

Mr Dinanath Bhargava Dinesh has recited to me portions of his versified rendering of the Bhagavadgita in Hindi. So far as I have been able to judge the writer has done the work with great care and has succeeded in producing a readable, and enjoyable, translation of the great classic

Ganganatha Jha
13.10.33

परम पूज्य विद्यावाचस्पति

समीक्षाचक्रवर्ती पण्डितवर श्रीमधुसूदन जी ओझा, जयपुर

श्री दीनानाथ जी भार्गव रचित गीता का हरिगीतिका छन्दोबद्ध भाषानुवाद देखकर बड़ा हर्ष हुआ। यह छन्दोबद्ध भाषानुवाद जनता के लिये एक नई और अति उपयोगी वस्तु है। गीता के जैसे गम्भीर विषय का ऐसा सरल अनुवाद छन्दोबद्ध होना अति प्रशंसनीय है। आशा है जनता में इसके प्रचार से बहुत कुछ उपकार हो सकता है।

श्रीमधुसूदन शर्म्मा ओझा

विद्यावाचस्पति, जयपुर

महामहोपाध्याय श्री पं० हरनारायण जी शास्त्री विद्यासागर

ब्रह्मज्ञान के सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ-रत्न श्रीमद्भगवद्गीता के गद्य और पद्यमय अनुवादों की कमी नहीं है, परन्तु फिर भी जन-साधारण को नित्य पाठ करने के लिये एक सरल सुबोध सरस और शब्दशः काव्यमय अनुवाद की आवश्यकता प्रतीत होती थी, इसी भाव से प्रेरित होकर मैंने अपने शिष्य दीनानाथ भार्गव 'दिनेश' से यह "श्रीहरिगीता" नामक पद्यानुवाद कराया। यह पद्यानुवाद बड़े परिश्रम से, प्राचीन टीकाकारों के भावों को सुरक्षित रखकर, समस्त आचार्यों के मतों का ध्यान रखते हुए, किया गया है। मैंने स्वयं छः वर्ष परिश्रम करके इसे बहुत ही बारीकी और छान-बीन से शुद्ध किया है। मैं कह सकता हूँ कि वेदान्त में काव्यानन्द का रस भरते हुए गीता का इस प्रकार का सरल और शुद्ध अनुवाद मेरे देखने में नहीं आया। जनता के लिये यह अनुवाद बहुत ही उपयोगी सिद्ध होगा और मैं आशा करता हूँ कि मेरे इस अन्तिम परिश्रम का उचित आदर किया जायगा।

ता० ६ मार्च १९३७ — हरनारायण शास्त्री

महामान्य श्री १०८ स्वामी भोले बाबा

···यह अनुवाद सब दोषों से रहित है। मूल के भावों की रक्षा की गई है। लेखक ने बड़े परिश्रम और विचार से शब्द चुने हैं। एक श्लोक का अनुवाद एक ही पद्य में बिना खैंचातानी के सरल और सुबोध भाषा में रखकर अनुवादक ने एक बड़ी कमी पूरी की है...।

* प्राक्कथन *

[व्याख्यानवाचस्पति श्री पंडित दीनदयालु शर्मा]

श्रीमद्भगवद्गीता हमारे धर्म-ग्रन्थों में एक परम उज्ज्वल और जगमगाता हुआ ऐसा रत्न है जिसके प्रकाश में—आध्यात्मिक ज्ञान, कर्म-अकर्म-बोध, योग एवं संन्यास के सिद्धान्त, शान्ति-प्रदायिनी भक्ति और हिन्दू-धर्म के गूढ़ तत्त्व मनुष्यमात्र को संक्षेप में किन्तु स्पष्ट रीति से दिखाई देते हैं।

संसार की प्रायः समस्त भाषाओं में इस अद्वितीय ग्रन्थ के अनेक अनुवाद हो चुके हैं, परन्तु तो भी मैं जिस समय संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ धर्मप्रिय गीता-प्रेमियों को भाषा-पाठ करते हुए देखता था तब मुझे यह हार्दिक अभिलाषा होती थी कि यदि इस ग्रन्थ-रत्न का अनुवाद गाने योग्य मधुर भाषा कविता में हो जाय तो गीता-प्रेमियों को अपूर्व सुविधा एवं लाभ हो।

इसी बीच में मेरे मित्र म० म० पं० हरनारायण जी शास्त्री विद्यासागर ने पं० दीनानाथ भार्गव 'दिनेश' को मुझसे मिलाते हुए कहा कि, 'ये मेरे प्रिय शिष्य हैं और इन्होंने श्रीमद्भगवद्गीता का पद्यानुवाद हरिगीतिका छन्द में बहुत ही प्रशंसनीय किया है।

अनुवाद को सुनकर और देखकर मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हुई फिर तो कई बार मनोनिवेश पूर्वक मैंने इसके विशिष्ठ-विशिष्ठ अंशों को सुना। मूल ग्रन्थ के भावों को बिना साम्प्रदायिक खैंचा-तानी के स्वाभाविक और सरल भाषा में पाकर अनुवाद की सफलता का सबसे श्रेष्ठ और आवश्यक गुण मुझे इसमें मिला। अनुवादक को इस अनुवाद में आशातीत सफलता हुई। एक श्लोक का अनुवाद एक ही पद्य में किया गया है। अनुवाद की भाषा परिमार्जित, ललित और सरल होते हुए भी अत्यन्त सरस और ओजस्विनी है। माधुर्य और प्रसाद गुण देखकर अनुवादक के कठिन परिश्रम की प्रशंसा किये बिना नहीं रहा जाता।

वेदान्त-ग्रन्थ होने पर भी इसमें काव्य के गुण होने से काव्य के पढ़ने का आनन्द आता है, उदाहरणार्थ—

मुझसे परे कुछ भी नहीं संसार का विस्तार है।
जिस भांति माला में मणी मुझमें गुथा संसार है॥

× × ×

कहते उसे ही योग जिसमें सर्व दु:ख-वियोग है।
दृढ़ चित्त होकर साधने के योग्य ही यह योग है॥

इस छन्द की गायन-शैली इतनी मधुर और सरस है कि मेरे निश्चय में बालक तथा स्त्रियां भी इसको सरलता से कंठस्थ करके गाते हुए समयानन्तर यथार्थ ज्ञान और धर्म लाभ कर सकते हैं। मेरी हार्दिक अभिलाषा है कि घर-घर में इस ग्रन्थ का प्रचार हो।



FOREWARD

The Bhagavad Gita is, by common consent, regarded as a New Testament of Hinduism, and is accepted without question by the most diverse faiths that constitute this religion. Indeed, there are many who hold that there is perhaps no sacred book in the world to equal it in the pure sublimity of its teachings, and the lofty, yet practical, character of the ideal it places before the average man. It inculcates simple belief in one God as the Supreme creator upholder, destroyer and renewer of Life; and emphasises knowledge and enjoins Action, reconciling them both in its idea of Sacrifice. It tells us that a man cannot desist from action,—for that will be the end of his Life—and all that he can do is to ronounce its attachment and fruit; and when, selfless & free from desire, he engages in it with restraint, in the name of God & for the benefit of all—he performs Action as a Sacrifice, is untouched by any taint and becomes free for ever.

The Bhagavad Gita has been translated in a number of languages in the world; and there is perhaps no language in India which has not a rendering of it in prose or verse. The number of translations in Hindi is a legion, and the only excuse for a new rendering is that it should reproduce the spirit of the original, or clarify

what is obscure, more fully than has been done before. A rendering in verse often combines a few advantages with a number of drawbacks. While it may reproduce the lilt of the original, it often adds new matter, and misses the spirit, and increases the difficulty of the original. But Pt. Dina Nath Bhargava 'Dinesh' has succeeded in avoiding these pitfalls. He has selected a metre which is of almost the same length as the original, and is admirably suited to reproduce its melody and charm; at the same time it is so flexible that it can easily be adapted to the genius of both Sanskrit and Hindi, as well as Urdu & Persian. At the same time by making a judicious use of Sanskrit words and expressions still current in modern Hindi, and *writing in a simple but chaste language the author has succeeded in combining the charm of the original with the elegance of the vernacular.* I have no doubt that the book will make a wide appeal to both the serious student and the average man. I have listened to its recitation with a thrill of joy, and write this Foreward as a mark of gratitude. Pandit Dina Nath has his claims as an old student, but I am still more indebted to him for the pleasure he has given me.

Hindu College, Delhi
24th January, 1937

N. V. THADANI

दो शब्द

श्रीलक्ष्मणनारायण गर्दे

श्रीहरिगीता श्रीमद्भगवद्गीता का प्रतिश्लोकी हिन्दी अनुवाद है। अनुवाद कर्ता हैं ऑल इण्डिया रेडियो द्वारा गीता सुनने वालों के चिरपरिचित पं० दीनानाथ भार्गव 'दिनेश' दिल्ली के "मानवधर्म" के कुशल धर्मनिष्ठ सम्पादक। 'दिनेश' जी की गीता मैंने ऑल इण्डिया रेडियो से जब सुनी तो मुझे बहुत ही आनन्द हुआ। मैंने मन ही मन कहा कि इस ऑल इण्डिया रेडियो के संचालक जो कोई हों, इसमें सन्देह नहीं कि 'दिनेश' जी से गीता कहलाने के रूप में उनके द्वारा बड़ा ही मंगलकार्य हो रहा है।

गीता के श्लोकों में एक विलक्षण मन्त्रशक्ति है, जिसके प्रभाव की कोई मर्यादा नहीं बांधी जा सकती, न गीतार्थ का कोई भी अनुवाद, भाष्य, वार्त्तिक या टीका उस अर्थ के मुक्त स्रोत में कोई बाँध बाँध सकती है। जितने भी साम्प्रदायिक अनुवाद या भाष्यादि होते हैं, सब अपने समय की विशेष परिस्थिति, उस समय के समाज की विचार-प्रणाली तथा वैयक्तिक धारणाओं और विशिष्ठ अनुभवों से मर्यादित होते हैं। साम्प्रदायिक प्राकार के अन्दर बँधा हुआ गीतार्थ अपने स्वाभाविक मुक्त स्रोत को ढांके ही रहता है। इसलिये गीता के सबसे अच्छे और प्रामाणिक अनुवाद वही कहे जा सकते हैं जो गीता के अर्थपूर्ण शब्दों का अनुवाद करने में अपनी ओर से अपने समय, समाज या व्यक्तित्व की कोई बात नहीं मिलाते और जहां तक होता है इससे बचने की सावधानी रखते हैं।

श्री 'दिनेश' जी की यह श्रीहरिगीता ऐसा ही एक प्रामाणिक अनुवाद है, यह मूल गीता से मिला मिलाकर देखने से स्पष्ट हो जाता है। श्रीहरिगीता में सम्पूर्ण मूल गीता दी हुई है और मूल के प्रत्येक श्लोक के सामने ही उसका हिन्दी प्रतिश्लोक भी।

किसी भी ग्रन्थकार की कोई कृति उसकी निष्ठा का ही प्रतिबिम्ब हुआ करती है। यदि उस कृति में उसकी निष्ठा नहीं है तो वह कृति कोई चीज नहीं है। इस दृष्टि से "श्रीहरिगीता" दिनेश जी की गीता-निष्ठा का ही फल है और निष्ठा ही वह बल है जिससे गीतार्थ प्राप्त होता है। निष्ठा का ही यह प्रसाद है जो इस प्रासादिक वाणी के साथ "श्रीहरिगीता" के रूप में प्राप्त हुआ है।

ऐसे प्रामाणिक अनुवादों से यह लाभ होता है कि एक तो चीज अपने असली रूप में मिलती है और दूसरे प्रत्येक पाठक को वह धैर्य और उत्साह प्राप्त होता है, जिससे गीतार्थ की व्यापकता में वह स्वच्छन्द विहार कर सके। गीता की मन्त्र-शक्ति उसकी सतत सहायक होती है।

गीता पहले-पहल कुरुक्षेत्र की रणभूमि में सुनाई गई और उससे जगन्मंगलकारक धर्मराज्य स्थापित हुआ। तब से ५११० वर्ष बीत चुके हैं, पर गीता का यही आदि और अन्त नहीं है। अनादि अनन्त तत्त्व का प्रतिपादन कर शाश्वत धर्म और ऐकान्तिक सुख का रास्ता बतानेवाली गीता का जीवन स्रोत अखण्ड और अमिट है। जो कोई आर्त्त होकर पुकारे, उसके लिये गीता का वरद हस्त, आज भी प्रत्यक्ष है। गीता को आज भी और जाने कितनी बार आगे भी उसी ज्ञान, धर्म और सुख का जगत् को दान करना है। इसलिये 'श्रीहरिगीता' का यह अवसर गीता के ही उस कार्य का एक महान अवसर है। इसमें कोई संदेह नहीं कि इससे देश, जाति, समाज और जगत् का मङ्गल होगा।

अनुवाद कैसा हो ?

संस्कृत से अनभिज्ञ होने के कारण आज के नर-नारी गीता का लाभ नहीं ले पाते। गीता के अनुवाद हैं परन्तु अधिकांश अनुवाद, भाष्य और टीकाएँ पाठकों को गीताज्ञान तक पहुँचने से पहले ही अपने में उलझा देते हैं। अतः संस्कृत से अनभिज्ञ पाठकों के लिये एक ऐसा अनुवाद चाहिये जिसमें—

१. मूल का भाव बिना घटाये-बढ़ाये ज्यों का त्यों रहे।
२. शब्दों की खैंचातानी और साम्प्रदायिकता न हो।
३. अर्थ स्पष्ट सीधा सरल और सुबोध हो।

श्रीहरिगीता को मैंने कई बार पढ़ा। एक सरसता और आनन्द का वातावरण बन जाता है। लेखक की अनुभूति, मनोयोग और शब्द-विज्ञान-कला की एक अविरल धारा तरल सरल और मनोहारी काव्य में प्रवाहित हो रही है। मेरे विचार में यह साधारण कार्य नहीं है। इसमें निःसन्देह भगवत् प्रेरणा और प्रसाद है। गीता-प्रेमियों के लिये श्रीहरिगीता एक अद्वितीय उपहार है। गीता के मन्त्र देवनागरी में देखकर मुझे बड़ा आनन्द हुआ, मैं चाहता हूँ कि जनता इससे समुचित लाभ ले। लेखक का प्रयत्न सफल और सराहनीय है। भगवान् उसे और भी अधिक सफलता और साहस दे, जिससे हमारे अन्य ग्रन्थ भी इसी रूप में जनता के समक्ष आ सकें।

—गोपालनाथ आनन्दमूर्ति षड्दर्शनाचार्य

परिपूरन मूल को भाव यथावत, रंच नहीं मनमानो विवाद है।
हरिगीतिका में हरिगीता रच्यो, खच्यो विश्व की बुद्धि में आनन्द नाद है॥
मन कायिक वाचिक वासना की, अलिनीन को दायक प्रेम प्रसाद है।
घनिवाद के योग उदै भयो मानो दिनेश 'दिनेश' को ये अनुवाद है॥

—श्री रघुनाथ कवि



श्री पं० दीनानाथ भार्गव दिनेश

नवां संशोधित संस्करण

मैंने जब प्रथम बार गीता को पढ़ा तो एक विलक्षण रुचि और स्फूर्ति जाग्रत हुई। एक दो श्लोक जो मुझे बहुत प्रिय लगे, उनका मैंने हरिगीतिका छन्द में हिन्दी पद्यानुवाद कर लिया और उन्हीं को गाते-गाते सम्पूर्ण गीता का अनुवाद अनायास ही हो गया।

गुरुजनों और मित्रजनों ने इस अनुवाद के प्रकाशन की प्रेरणा दी। प्रथम-संस्करण को जनता-जनार्दन ने हाथों-हाथ अपनाया और मुझे जान पड़ा कि मेरा अर्पण स्वीकृत हुआ है।

दूसरा, तीसरा, चौथा, पाँचवाँ, छठा, सातवाँ, आठवाँ संस्करण प्रकाशित हुआ और अब यह नवाँ संस्करण सेवा में प्रस्तुत है। कागज की तथा अन्य असुविधाओं के कारण 'श्रीहरिगीता' की बढ़ती हुई माँग कभी पूरी नहीं की जा सकी। प्रत्येक संस्करण के पश्चात् प्रिय पाठकों को नये संस्करण की बहुत समय तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है, इसके लिये मैं क्षमा-प्रार्थी हूँ।

गीता की एक विस्तृत व्यावहारिक टीका 'गीताज्ञान' के नाम से अलग भी प्रकाशित की गई है। वह मेरे रेडियो पर दिये गये प्रवचनों का परिमार्जित संकलन है। सच तो यह है कि गीता के विषय में जो कुछ लिखा जाय कम है। युग-युग के मानव-जीवन में चरितार्थ होने की अपनी मौलिकता के कारण बहुत कुछ लिखा जाने पर भी इस दिव्य-ग्रन्थ के नित्य नव-नव संस्करण होते रहने स्वाभाविक हैं।

भारतीय तत्त्व-ज्ञान और आध्यात्मिक जीवन के इस ग्रन्थ का ऐसा रहस्यमय ईश्वरीय प्रतिपादन है कि इसके अनुवाद में भूल और भ्रम सम्भव है। वह विश्व-पुरुष जैसा बुद्धियोग देता है, उसीसे उसका कार्य करके उसीके अर्पण करने में मनुष्य तो निमित्तमात्र है, वह स्वीकार करता है, इसीमें सन्तोष है।

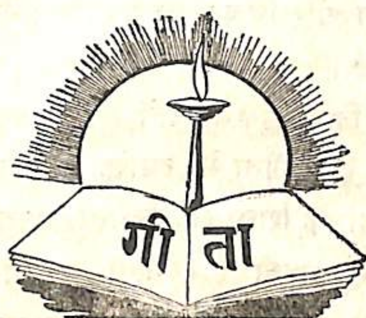
२६ जनवरी १९६२

दीनानाथ दिनेश

गीता-महिमा

गीता हृदय भगवान् का सब ज्ञान का शुभ सार है।
इस शुद्ध गीता-ज्ञान से ही चल रहा संसार है॥
गीता परमविद्या सनातन सर्वशास्त्र प्रधान है।
पर - ब्रह्म - रूपी मोक्षकारी नित्य गीता-ज्ञान है॥
यह मोह माया कष्टमय तरना जिसे संसार हो।
वह बैठ गीता-नाव में सुख से सहज में पार हो॥
संसार के सब ज्ञान का यह ज्ञानमय भंडार है।
श्रुति, उपनिषद्, वेदान्त-ग्रन्थों का परम शुभ सार है॥
गाते जहाँ जन नित्य हरिगीता निरन्तर नेम से।
रहते वहीं सुख-कन्द नटवर नन्द-नन्दन प्रेम से॥
गाते जहाँ जन गीत-गीता प्रेम से धर ध्यान हैं।
तीरथ वहीं भव के सभी शुभ शुद्ध और महान हैं॥
धरते हुए जो ध्यान, गीता-ज्ञान का तन छोड़ते।
लेने उसे माधव मुरारी आपही उठ दौड़ते॥
सुनते-सुनाते नित्य जो लाते इसे व्यवहार में।
पाते परम-पद ठोकरें खाते नहीं संसार में॥

पारस रूप विशेष, लोह बने सोना छुए।
गीता-ज्ञान 'दिनेश', संसृति-सागर सेतु है॥



गीता का दर्शन

गीता, मानव-जीवन के लिये रचनात्मक कार्य-क्रम है। यह मानवधर्म का वह सुन्दर महाकाव्य है, जो जीवन को उत्साह, आनन्द और कर्म-प्रेरणा से भर देता है। मानवमात्र की उन्नत और उदार आवश्यकताओं की पूर्ति गीता से होती है।

गीता, योगेश्वर श्रीकृष्ण की वंशी का वह गीत है, जिसकी प्रत्येक ध्वनि, सत्य और सुन्दरता से सम्पन्न आध्यात्मिक जीवन को जगानेवाली है।

गीता का अमृत-सन्देश जीवन को स्फूर्ति और रूप देकर उभारता है। सत्य को सुन्दर बनाकर व्यवहार में लाना और विश्व के भोग भोगते हुए भी सच्चिदानन्द से दूर न जाना, गीता के कर्मयोग की विलक्षणता है।

इस दुःखी संसार में वही सुखी है, जो कर्म करते हुए गीता के गीत गुन-गुनाता रहता है। कर्तव्य-बोध के लिये गीता, ज्ञान की कामधेनु है।

गीता, स्वधर्म को भूलकर, संसार के संग्राम से भागते हुए, दुःखी नर को धर्म का सन्देश और विजय का वरदान देनेवाली विश्व-पुरुष की दिव्य वाणी है।

गीता, सर्वसाधारण के लिये सुलभ वेदों का अवतार है और सम्पूर्ण शास्त्रों का सार है। गीता में व्यक्ति और समष्टि से सम्बन्ध रखनेवाली प्राथमिक शिक्षा से उच्चतम तत्त्व ज्ञान तक की अखण्ड जीवन-धारा बहती है। गीता के ज्ञान से जीवन की सफलता है, गीता के दर्शन में विश्व का विराट् रूप है। गीता में श्री, विजय, विभूति, नीति, समृद्धि और सम्पन्नता का निवास है।

गीता में वह शान्ति और आनन्द का मार्ग है, जिसे प्रत्येक प्राणी ढूँढ रहा है। गीता में धर्म का वह सार-मर्म है, जिसकी प्रत्येक जीवन को आवश्यकता है। गीता महाप्रतापी परात्पर पुरुष श्रीकृष्ण के पाञ्चजन्य का जय-घोष है। गीता जीवन की जटिल महाभयानक युद्ध-भूमि पर गाया हुआ युद्धोपनिषद् है।

गीता मनुष्य में निर्भय, सुखी, विजयी और स्वतन्त्र जीवन जीने की महाशक्ति भर देती है।

गीता का बोध—

गीता की थाह पाण्डित्य से नहीं, कर्म से मिलती है। कुरुक्षेत्र (कर्मभूमि) की ऊँची-नीची भयंकर स्थिति में दैवीरथ (देह) पर बैठा हुआ योद्धा (जीव) जब अपने संचालक (परमात्मा) के साथ एक प्राण हो जाता है, तब वह गीता-ज्ञान का अधिकारी

बनता है। और जब श्रद्धा तथा प्रेम-पूर्वक वह इस अधिकार की रक्षा करता है, तब वह गत-सन्देह होकर ईश्वर की आज्ञा का पालन करता हुआ सफल-प्रयत्न होता है। गीता के राज-मार्ग का द्वार कर्म-तत्पर पुरुष के लिये सदा खुला रहता है।

केवल भाषा-ज्ञान और भाष्यों के विवाद-ग्रस्त विस्तृत विवेचनों से गीता का विराट्-दर्शन अशक्य है। कर्म-क्षेत्र में जिसकी जितनी सूक्ष्म सत्य शिव सुन्दर उदार और विशाल दृष्टि होती है, गीता-दर्शन उसके लिये उतना ही स्पष्ट होता है।

युग-युग में महापुरुषों ने अपनी-अपनी दृष्टि से गीता का दर्शन किया है। यद्यपि गीता एक ही है और उसका एक ही निश्चित स्पष्ट और महान् स्वरूप है, तथापि देखनेवाले उसे अपनी-अपनी आँखों से अनेक रूपों में देखते हैं।

श्रीशंकर जैसे महान् तपस्वी आचार्य ने अपनी मायावाद-प्रधान दृष्टि से गीता में संन्यास-ज्ञान के दर्शन किये। श्रीरामानुज ने क्षणभंगुर माया से परे ब्रह्म और जीव का सम्बन्ध जोड़, पराभक्ति द्वारा जीवन की पूर्णता पाने का मार्ग गीता में देखा। राष्ट्र के गौरव प्रकाण्ड पंडित लोकमान्य तिलक ने अपनी कर्म-प्रधान दृष्टि से गीता में कर्म-योग के दर्शन किये। इस युग के परम योगी श्रीअरविन्द ने गीता में—कर्म, भक्ति और ज्ञान की पतित-पावनी त्रिवेणी में गोता लगा, तीनों योगों के समन्वय में जीवनोपयोगी व्यावहारिक ज्ञान के दर्शन किये।

गीता में हमें उस जीते-जागते कर्म-प्रेरक परम-तत्त्व के दर्शन

करने हैं, जिससे सन्तप्त अशान्त और स्वधर्म को भूले हुए अर्जुन की क्लीबता नष्ट हुई, जिससे उसे आर्यत्व का स्मरण हुआ, जिसने उसमें परम पुरुषार्थ जगाया और उसे राजसीभाव तथा माया-ममता से हटाकर दैवी-कर्म में नियुक्त किया। हमें सन्देह-रहित और निर्भय होने के लिये ईश्वरीय वाणी सुननी है और उसके अनुसार स्वधर्म का आचरण करना है। कुरुक्षेत्र के समान रक्त-रंजिता नर्दक भूमि को भी स्वधर्म-पालन से आध्यात्मिक, स्वतन्त्र, अक्षुण्ण और अखण्ड धर्मभूमि बनाने के लिये हमें गीता के ज्ञान की आवश्यकता है।

हमारे कर्म आनन्द से भर जायें, हमारा प्रेम मानवमात्र में भगवत्-भाव भर दे और हमारा ज्ञान सम्पूर्ण आध्यात्मिक तथा बौद्धिक विकास का सहायक होकर जीवन को ईश्वरीय कर्मों का क्षेत्र बनाने में सफल हो—हम सब सत्य में स्थित हों, योग-क्षेम की चाह और चिन्ता से मुक्त हों और आत्मवान् बनें यही हमें गीता से सीखना है।

कर्म को बन्धन और त्याज्य मानकर जो अकर्मण्य प्राणी जीवन की निधि खो चुके हैं, स्वतन्त्रता (जीवन-मुक्ति) के आनन्द का अनुभव जिन्हें स्वप्नवत् है, इसी जीवन में स्वर्ग-सुख का उपभोग छोड़कर जो मरने पर स्वर्ग पाने की अभिलाषा करते हैं और जो गीता के ज्ञान का अधिकार खोकर दीनभाव से कहते हैं कि गीता को समझ लेना महान दुष्कर है, उनके हृदय में गीता के ज्ञान का प्रकाश नहीं होता।

हमें सहायता और प्रकाश के लिये गीता की क्षण-क्षण में नयी रुचि उत्पन्न करनेवाली विलक्षण वाणी सुननी है, गीता के जीते-जागते सन्देश से कर्म की प्रेरणा और स्फूर्ति लेकर मर्त्य जगत् को अमृत से भरना है, असत् से सत् की ओर चलना है।

कर्म और ज्ञान के दोनों हाथ जोड़कर हार्दिक भक्ति से गीता की वन्दना करते ही जीवन के स्वरों में गीता का संगीत गूञ्ज उठेगा।

गीता का तत्त्व

कुरुक्षेत्र की भूमि संसार का विस्तृत क्षेत्र है। यहाँ प्रत्येक जीव को प्रतिपल युद्ध करना पड़ता है। इस भूमि में नाना प्रकार के गुण और दोष मानव-मन में जागते हैं। विचार-शक्ति और कर्म-शक्ति का भयंकर संघर्ष होता है। प्रतिकूल और अनुकूल भावों का वेग आँधी की भांति उठकर रोम-रोम में कम्पन कर देता है। ऐसे समय में दया, धर्म और साहस भी थोड़ी-सी शिथिलता और दर्प आने पर मोह, भ्रम और क्लीबता में परिणत हो जाते हैं। मनुष्य किं-कर्तव्य-विमूढ़ होकर युद्ध करने की योग्यता और शक्ति खो बैठता है। अवसर पाकर दीनभाव उसके हृदय में प्रवेश कर जाते हैं और आश्चर्य तो यह कि वह अपने ज्ञान और वीरत्व से ही अपनी हीनता का पोषण करता है। अर्जुन की यही स्थिति थी और बहुधा संसार के धुरन्धर ज्ञानी-ध्यानी वीरों से लेकर साधारण पुरुषों तक के सन्मुख ऐसी परिस्थितियाँ आती हैं। इन परिस्थितियों के झंझावात में जिनके पैर उखड़ जाते हैं, वे स्वर्ग-सुख और सम्मान

खो देते हैं, संसार में सर्वत्र उनकी निन्दा होती है, स्वधर्म का पालन न करके वे स्वयं अपना जीवन नष्ट करते हैं और अपने धर्म तथा राष्ट्र को शक्तिहीन कर देते हैं।

मोह और विषाद-ग्रस्त प्राणी के लिये बल, शास्त्र-ज्ञान, कुल का अभिमान और सम्पूर्ण प्रेरणायें निरर्थक हैं। ऐसी दशा में स्थिर रहने के लिये वीरत्व और ज्ञान के साथ-साथ भगवत्-कृपा की विशेष उपयोगिता है।

जीवन एक युद्ध है मनुष्य के भीतर और बाहर कुरुक्षेत्र का बड़ा मैदान है। देवताओं और दानवों में, सतगुणों और दुर्गुणों में, पाण्डवों और कौरवों जैसा युद्ध छिड़ा ही रहता है।

भीष्म, द्रोण और कर्ण-जैसे तेजस्वी महारथी भी दुर्गुणों के साथ रहने से नष्ट हो जाते हैं।

परमेश्वर के साथ रहनेवाले सदा विजय पाते हैं। गीता विजय का महामन्त्र है।

कर्म के मार्ग में असावधानी और अहंकार से धीर-वीर भी मोह में पड़ जाते हैं। परन्तु जो भगवत्कृपा की माँग करते हैं। उनके लिये वह सदा सुलभ है। अर्जुन को श्रीकृष्ण की कृपा प्राप्त हुई, मित्र और सम्बन्धी के नाते नहीं, शरणागत के नाते। इसी कृपा के फल स्वरूप अर्जुन ने ईश्वरीय वाणी—गीता सुनी।

परिणाम, पौरुष और लोक-संग्रह का विचार करके कर्म करने में मनुष्य की मनुष्यता है। जब मनुष्य अपने धर्म के अनुसार प्राप्त-पौरुष से, सात्विक परिणाम देखकर कर्म में प्रवृत्त

होते हैं, तब कर्म, बन्धन-कारक नहीं होता। ऐसा कर्म करनेवाले चाह और चिन्ता से दूर रहते हैं और बुद्धिवाद से व्यर्थ विवाद और कुतर्क का आश्रय नहीं लेते।

संसार में सुख राई के समान है और दुःख पहाड़ों जैसा। सुख और दुःख की खाइयों में न गिर कर जो उन्हें लाँघता हुआ आगे बढ़ता है, वही लोक-परलोक दोनों में मुक्त रहता है। कर्म-मार्ग की बाधाओं को चीरता हुआ उमंग और उत्साह से बढ़नेवाला सदा रामराज्य का सुख भोगता है—मुक्ति उसीके लिये है। कर्महीन न जीवन में मुक्त होते और न मरने पर। जीवन कर्म के लिये मिला है। कर्म के अधिकार का लाभ उठाकर नित्य नूतन प्रगति करना जीवन है, कर्म छोड़कर बैठ जाना मृत्यु है।

इन्द्रिय-सुखों की कामना से स्वार्थ और फल के लिये कर्म करने से भूल और अपराध होते हैं। कामना से जीवन उदास और चिन्तित बन जाता है। अतः फल पाने के लिये नहीं, कर्म पूरा करने के लिये व्याकुल रहना चाहिये। कर्म पूरा होते ही नित्य-तृप्ति का मधुर फल मिलता है। मन-वचन को एक करके हृदय से कर्म करो! प्रत्येक अवस्था में आगे बढ़ते चलने का नाम कर्म-योग है।

बुद्धि निर्मल हो जाय, सुख और दुःख में न पड़ कर रास्ता न भूले, पाप और पुण्य से ऊपर उठ कर कर्म करे, तो कर्म में कुशलता आ जाती है। कुशलता से कर्म करने को 'योग' कहते हैं। योग-बुद्धि से किया हुआ छोटा-सा कर्म भी महान् बन

जाता है। तुलाधार वैश्य अपने प्रत्येक आचरण के बाट से जीवन की तराजू पर भगवान् को तोलता था, कबीर लाभ-हानि से ऊपर उठकर चदरिया बुनने में अपनी आत्मा उँडेल देते थे, विदुर ने भाव-बुद्धि से रूखे-सूखे भोजन को भी स्वादिष्ट बना दिया। दुर्योधन के अहंकार से मेवा-मिष्टान्न भी नीरस और तामसी हो गये। बुद्धि और भाव हैं, जो मनुष्य के कर्मों को देवताओं का कर्म बना देते हैं।

आत्मा—

कर्म करने में लाभ-हानि, जीवन-मरण, विजय-पराजय, सुख-दुःख कुछ भी प्राप्त हो, परन्तु किसी भी प्राप्ति में ध्येय से विचलित होना अथवा अधीर और भयभीत होकर कर्म का गाण्डीव छोड़ देना महापाप है। इस पाप से आत्मज्ञानी पुरुष ही बचे रहते हैं। आत्मा पापों में लिप्त नहीं होता, आत्मा मरता नहीं, जन्मता नहीं, शरीर का वध हो जाने से भी उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। आत्मा नित्य है, सर्वगत है, अचल है और सनातन है, ऐसा जानकर आत्मवान पुरुष निर्भय, निर्द्वन्द्व और निर्विकारी रहते हैं।

आत्मवान पुरुष स्वधर्म से विमुख नहीं होते, साहस नहीं छोड़ते, कर्तव्य-युद्ध में कभी पीठ नहीं दिखाते। वे जीवित रहते हैं तो प्रतिभाशाली, गौरव-सम्पन्न जीवन जीते हैं और कर्म-युद्ध में अपनी बलि देते हैं तो स्वर्ग का सिंहासन प्राप्त करते हैं।

आत्मवान् होने के लिये कर्म का प्रमाद-रहित, एकनिष्ठ

आचरण अनिवार्य है। जिसकी बुद्धि के निश्चय का मेरुदण्ड झुक जाता है, वह सब साधनों को प्राप्त करके भी कर्म-क्षेत्र में डिग जाता है। निश्चलबुद्धि से किये हुए कर्म का थोड़ा-सा आचरण भी भय और विघ्नों के भारी पर्वतों को तोड़ देता है।

कर्म—

कर्म करने के अधिकार का लाभ उठाने के लिये योग में स्थित होना आवश्यक है। चित्त-वृत्तियों को एकाग्र करके, जीव और आत्मा का सम्बन्ध जोड़कर अन्तर और बाह्य को एक करके, बुद्धि से कर्म करने का नाम ही योग है। योग में द्वन्द्वों और विकारों का स्थान नहीं है। अनासक्त कर्मयोग की सिद्धि, द्वन्द्व और विकारहीन बुद्धि, योग से मिलती है।

गीता में कर्म की सिद्धि का प्रधान साधन बुद्धि-योग है। बुद्धि-योग के लिये ही गीता में स्थितप्रज्ञ का वर्णन है।

स्थित-प्रज्ञ—

स्थितप्रज्ञ गीता का जीवन्मुक्त लोहपुरुष है। उसका मन, आत्मा के अखण्ड आनन्द की तरंगों पर खेलता है। कामना के खिलौने उसे मोहित नहीं कर पाते। सुख में वह अधिक सुख की चाह नहीं करता; दुःख में दुःखी नहीं होता; राग, भय और क्रोध उसके संकेतों पर नाचते हैं। प्रसन्नता स्थितप्रज्ञ के समस्त दुःखों को ढक लेती है। समुद्र में जैसे नदियाँ समा जाती हैं, उसी प्रकार स्थितप्रज्ञ में संसार के सारे विषय समा जाते हैं। वह अखण्ड शान्ति, परमानन्द और ब्राह्मीस्थिति में निवास करता है।

आनन्द, शान्ति, सुख और बुद्धि-योग की प्राप्ति के लिये भी भ्रम, मिथ्याचार और आत्म-वंचना से जीव कर्म से पीछे हट जाता है। कर्म-पथ से विचलित होते ही वह एक संकट-संग्राम में घिर जाता है। ऐसी अवस्था में संस्कारी पुरुष अशान्त और संतप्त हो जाने पर अपने परमात्मा से निश्चित और कल्याणकारी मार्ग-दर्शन की माँग करता है। परमेश्वर की शरण लेनेवाले की सब मांगे पूरी होती हैं।

यज्ञ—

मनुष्य की माँग पर उसके कल्याण के लिये परमेश्वर उसे यज्ञ-चक्र देता है। यज्ञ कल्पवृक्ष है, उसका फल अमृत है। यज्ञ-कर्म, जीवन को गति और नियम देते हैं। सांसारिक सुख और ब्रह्मज्ञान दोनों का व्यावहारिक समन्वय यज्ञ में होता है। यज्ञ, गीता के निष्काम कर्मयोग की व्याख्या है। यज्ञ के प्रभाव से किसी की कोई कामना अपूर्ण नहीं रहती।

देव-पूजन, अर्पण, संगठन, दान और लोक-संग्रह द्वारा जब एक दूसरे का घाटा पूरा किया जाता है, तब यज्ञ सम्पूर्ण होता है। यज्ञ देवता और मानवों का परस्पर आदान-प्रदान है। निरन्तर भगवान में टिके रहना और भगवत्-चेतना से युक्त होकर सदाचार-पूर्ण कर्म करना सर्वश्रेष्ठ यज्ञ है। यज्ञ-कर्म में भी आसक्ति और मिथ्याचार होने से मानव की दैवीशक्ति क्षीण हो जाती है और देव-भाव का लोप हो जाता है।

यज्ञरूप अनासक्त कर्मयोग में विघ्न डालनेवाले मनुष्य के

तीन महान शत्रु हैं—काम, क्रोध और लोभ। इन तीनों ने ज्ञान और विज्ञान को नष्ट करने का संकल्प किया हुआ है। अतः इन शत्रुओं पर विजय प्राप्त किये बिना ज्ञान की आँख नहीं खुलती। ज्ञान की दृष्टि के बिना कर्म और अकर्म का यथार्थ बोध नहीं होता।

इन मानव-शत्रुओं का विनाश करने के लिये दृढ़ संकल्प, आत्म-विश्वास, ध्यान, एकाग्रता, योग, संयम और मन पर विजय पाने के साधनों का वर्णन गीता में किया गया है।

समदर्शन—

सम्पूर्ण साधनों की सफलता समदर्शन में है। सबका सुख और दुःख अपना ही सुख-दुःख है। सब प्राणियों में समान रूप से देवाधिदेव परमात्मा का निवास है—ऐसा जानकर जो योगी कर्म में प्रवृत्त होता है वह सबसे श्रेष्ठ है। कर्म-निष्ठ, तपस्वी, ज्ञानी आदि सबसे अधिक महत्त्व ऐसे योगी का है। ऐसे योगी को गीता में 'भक्त' कहा है।

भक्त—

भक्त चराचर में अपने प्रियतम का मधुर दर्शन करता है। और अपना सर्वस्व उसके अर्पण कर देता है। महाभारत का युद्ध केवल १८ दिन में समाप्त होगया, परन्तु संसार का युद्ध नित्य-निरन्तर चलता रहता है। इस युद्ध में लड़ते हुए जो भगवान् को नहीं भूलता, प्राणिमात्र के लिये प्रेम और सद्भाव वितरण करता है, वही सर्वश्रेष्ठ भक्त है। ऐसे भक्त को भगवान् स्वयं दिव्यदृष्टि प्रदान करते हैं; जिससे वह विश्व का विराट्

दर्शन करता है। जो विश्व दर्शन, जो विश्व-ज्ञान और जो विश्व-विजय किसी धर्म, यज्ञ, तप, दान आदि से प्राप्य नहीं है, वह एक अनन्य भक्ति से सम्भव है। अनन्य भक्ति का तात्पर्य है—केवल परमात्मा के लिये कर्म करना, दैवी गुणों की उपासना, अनासक्ति, सब प्राणियों से वैरहीन होना और सबका मित्र होकर रहना। यही गीता का अमृतधर्म है। इस अमृत का पान करनेवाले भगवान् को परमप्रिय होते हैं।

गीता मनुष्य में ऐसे परमेश्वर की प्रतिष्ठा करती है जो मनुष्य के साथ उठता-बैठता, बोलता और खेलता है, उसे प्रत्येक परिस्थिति पर विजय पाने के लिये बुद्धि और बल देता है। हृदय-देश में परमेश्वर का अवतरण होने पर ही दिव्यदृष्टि अथवा ज्ञान की आँख खुलती है; मुक्ति का निश्चित और स्पष्ट मार्ग मिल जाता है; पुरुष, पुरुषोत्तम को प्राप्त करके अखण्ड आनन्द में विचरता है और जीवन-मुक्त हो जाता है।

जीवन्मुक्त किसी जीवन को बन्धन में नहीं देख सकता। भूखे-नंगे, दुःखी-दरिद्री और बेघरबार नर-नारियों को देखकर वह दया-द्रवित हो जाता है। दरिद्र-नारायण की सेवा में वह अपना तन, मन, धन लगाकर प्रसन्न होता है, यही आस्तिकता है। ईश्वर के पुत्रों को दुःख देनेवाला अथवा दुःखी देखनेवाला नास्तिक है। आस्तिक कभी चाह, चिन्ता और दुःखों में नहीं फँसता। वह अपने पर और हृदय में स्थित भगवान् पर विश्वास करता है।

पुरुषोत्तम—

परमेश्वर की सत्ता अनन्त है, उनका ज्ञान असीम है, वे परम स्वतन्त्र हैं और अखण्ड आनन्द की निधि हैं। गीता के ज्ञातव्य पुरुष केवल भगवान् ही हैं, वे क्षर और अक्षर दोनों से परे पुरुषोत्तम हैं। पुरुषोत्तम के ध्यान और उपासना से विषादग्रस्त पुरुष गुणातीत होकर पुरुषोत्तम तक पहुँचता है।

पुरुषोत्तम से दैवीभाव का स्रोत उमड़ता है। दैवी सम्पत्ति को धारण करनेवाले पुरुष, पुरुषोत्तम के ज्ञान के अधिकारी होते हैं और आसुरी-सम्पत्ति में फँसे हुए नर-नारी संसार की धधकती हुई भट्टी में दग्ध होते हैं।

दैवी सम्पत्ति—

दैवी-सम्पत्ति को धारण करने के लिये सात्विक आहार-विहार, सात्विक कर्म, सात्विक बुद्धि और सात्विक श्रद्धा का वर्णन गीता में किया गया है। सात्विक पुरुष स्वयं सुखी रहता है और तप द्वारा संसार को सुखी बनाता है।

सत्य और तप में, अनासक्त कर्म का बल और परमात्मा की प्राप्ति है। तप ही ज्ञान का मार्ग और निर्भय तथा शोक-रहित होने का साधन है। परमात्मा की पूजा, तप से तपे चरित्रवान पुरुषों द्वारा होती है। चरित्र नियत कर्मों से बनता है। नियत कर्म के त्याग से जड़ता, ईश्वरीय कोप, अज्ञान, द्वेष और दुःखों की निरन्तर वृद्धि होती है।

मृत्यु के सन्मुख आजाने पर भी नियत-कर्म अथवा स्वधर्म का त्याग न करना गीता का प्रथम और अन्तिम आदेश है। इस

आदेश का पालन करने के लिये सर्वस्व का त्याग और बलिदान करनेवाले की रक्षा स्वयं भगवान करते हैं।

अनासक्त कर्म—

काम, क्रोध, लोभ, मोह, अज्ञान, अविद्या आदि की प्रेरणा से किये गये कर्मों में सदा आसक्ति रहती है। आत्मा, परमात्मा अथवा पवित्र मन की प्रेरणा से किये गये कर्मों को 'अनासक्त कर्म' कहते हैं। अपने स्वार्थ के लिये परपीड़ा, छल-कपट और हिंसा से कर्म करनेवाला आसक्त कहा जाता है। न्याय, सत्य, सेवा और कर्तव्य-पालन के लिये कर्म करनेवाला अनासक्त है।

श्रीकृष्ण की कृपा से अर्जुन को अनासक्त कर्म अथवा स्वधर्म का ज्ञान हुआ; सन्देह-रहित अर्जुन ने कर्म का गांडीव उठा लिया।

श्रीकृष्ण और अर्जुन का संवाद ब्रह्मविद्या और कर्म का सम्बन्ध जोड़नेवाला योगशास्त्र है। इस योगशास्त्र के ज्ञान से जीवन की कला जागती है। परमात्मा के साथ रहकर जो अपने अहंकार की बलि देता है; श्रद्धा, तत्परता और संयम के पथ पर सावधानी से चलता है, उसका साथ परमेश्वर कभी नहीं छोड़ते। पुरुष और पुरुषोत्तम के मिलन से कर्म शुद्ध होता है, त्याग दौड़कर कर्म का आलिंगन करता है, श्वास-श्वास से परमेश्वर का स्मरण स्वयं होने लगता है और मनुष्य सब ओर से हटकर देह और इन्द्रियों के प्रपंचों से छूटकर अपने से अभिन्न ब्रह्म को पा लेता है। शुद्ध कर्म करनेवाला भगवान् की शरण लेता है और सब चिन्ताओं से मुक्त हो जाता है; भगवान उसे कर्तव्य-बुद्धि देकर सब प्रकार निर्भय कर देते हैं।

जहाँ कर्तव्य-बुद्धि का योग देनेवाले योगेश्वर श्रीकृष्ण रहते हैं और उनके साथ कर्म का गांडीव धारण करनेवाले अर्जुन रहते हैं, वहीं सुख, सम्पत्ति, प्रेम और सद्भावना के अंकुर उभरते हैं।

ॐ

कृपा कोर से मूक बोलते, पंगु डोलते हैं अविराम।
पूर्णकाम विश्राम जगत के, माधव परमानन्द प्रणाम॥

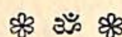
श्री हरि गीता

अर्थात्

श्रीमद्भगवद्गीता का मूलसहित हिन्दी पद्यानुवाद

नर नित्य नूतन भाव से करते मनन गीता जहाँ।
सुख कन्द नटवर नन्द नन्दन प्रेम से रहते वहाँ॥

—दिनेश



श्रीमद्भगवद्गीता

प्रथमोऽध्यायः

धृतराष्ट्र उवाच—

१

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥

संजय उवाच—

२

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥

३

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥

४

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।

गीता का भली-भांति अध्ययन कर लेने के पश्चात् और शास्त्रों के विस्तार से लाभ ही क्या ? गीता सब शास्त्रों का सार है ।

☆ ॐ ☆

卐 श्रीहरिगीता 卐

पहला अध्याय

राजा धृतराष्ट्र ने कहा— १

रण-लालसा से धर्मभू,[1] कुरुक्षेत्र में एकत्र[2] हो।
मेरे सुतों ने पाण्डवों ने, क्या किया संजय कहो॥

संजय ने कहा— २

तब देखकर पाण्डव-कटक[3] को व्यूह-रचना साज से।
इस भांति दुर्योधन वचन कहने लगे गुरुराज से॥

३

आचार्य महती[4] सैन्य[5] सारी, पाण्डवों की देखिये।
तव शिष्य बुधवर द्रुपद-सुत ने दल सभी व्यूहित[6] किये॥

४

भट भीम अर्जुन से अनेकों शूर श्रेष्ठ धनुर्धरे।
सात्यकि द्रुपद योद्धा विराट महारथी रणबांकुरे॥

---

१ धर्मक्षेत्र। २ इकट्ठे। ३ सेना। ४ बहुत बड़ी। ५ सेना।
६ व्यूह बनाकर खड़े किये हैं।

५

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥

६

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥

७

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥

८

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥

९

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥

हरि सम जग कछु वस्तु नहिं प्रेम पंथ सम पंथ ।
सद्गुरु सम सज्जन नहीं, गीता सम नहिं ग्रन्थ ॥

५

काशी-नृपति[1] भट धृष्टकेतु व चेकितान नरेश हैं।
श्री कुन्तिभोज महान पुरुजित शैब्य वीर विशेष हैं॥

६

श्री उत्तमौजा युधामन्यु, पराक्रमी वरवीर हैं।
सौभद्र, सारे द्रौपदेय, महारथी[2] रणधीर हैं॥

७

द्विजराज ! जो अपने कटक के श्रेष्ठ सेनापति सभी।
सुन लीजिये मैं नाम उनके भी सुनाता हूँ अभी॥

८

हैं आप फिर श्रीभीष्म, कर्ण, अजेय कृप रणधीर हैं।
भूरिश्रवा गुरुपुत्र[3] और विकर्ण से बलवीर हैं॥

९

रण साज साजे निपुण शूर अनेक ऐसे बल भरे।
मेरे लिये तय्यार हैं, जीवन हथेली पर धरे॥

---

१ राजा। २ दस हजार योधाओं के साथ अकेला युद्ध करनेवाला। ३ अश्वत्थामा।

१०

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥

११

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥

१२

तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥

१३

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥

१४

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥

गीता का जो सकाम पाठ करते हैं उनको तो मनोवांछित फल प्राप्त होता है और जो निष्काम पाठ करते हैं उनका अन्तःकरण शुद्ध होकर उनको परमानन्द की प्राप्ति होती है । —परमहंस स्वामी आनन्दगिरि

१०

श्री भीष्म-रक्षित है नहीं, पर्याप्त अपना दल बड़ा।
पर भीम-रक्षा में उधर, पर्याप्त उनका दल खड़ा॥

११

इस हेतु निज-निज मोरचों पर, वीर पूरा बल धरें।
सब ओर चारों छोर से, रक्षा पितामह की करें॥

१२

कुरुकुल-पितामह तब नृपति[१]-मन मोद से भरने लगे।
कर विकट गर्जन सिंह-सी, निज शंख-ध्वनि[२] करने लगे॥

१३

फिर शंख भेरी ढोल आनक गोमुखे चहुँ ओर से।
सब युद्ध बाजे एक दम बजने लगे ध्वनि घोर से॥

१४

तब कृष्ण अर्जुन श्वेत[३] घोड़ों से सजे रथ पर चढ़े।
निज दिव्य[४] शंखों को बजाते वीरवर आगे बढ़े॥

---

१ राजा। २ शब्द। ३ सफेद। ४ अलौकिक।

१५

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥

१६

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥

१७

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥

१८

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः शंखान्दध्मुः पृथक्पृथक् ॥

१९

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥

किसी भी जाति को उन्नति के शिखर पर चढ़ाने के लिये गीता का उपदेश अद्वितीय है ।

—वारेन हेस्टिंग्स

१५

श्रीकृष्ण अर्जुन 'पाञ्चजन्य' व 'देवदत्त' गुँजा उठे।
फिर भीमकर्मा[1] भीम 'पौण्ड्र' निनाद[2] करने में जुटे॥

१६

करने लगे ध्वनि नृप युधिष्ठिर, निज 'अनन्तविजय' लिये।
गुंजित[3] नकुल सहदेव ने सु-'सुघोष' 'मणिपुष्पक' किये॥

१७

काशीनरेश विशाल धनुधारी शिखण्डी वीर भी।
भट धृष्टद्युम्न, विराट, सात्यकि, श्रेष्ठ योधागण सभी॥

१८

सब द्रौपदी के सुत, द्रुपद, सौभद्र बल भरने लगे।
चहुँ ओर राजन्! वीर निज-निज शङ्ख-ध्वनि करने लगे॥

१९

वह घोर शब्द विदीर्ण[4] सब कौरव-हृदय करने लगा।
चहुँ ओर गूँज वसुन्धरा[5] आकाश में भरने लगा॥

१ भयंकर कर्म करनेवाले। २ शब्द। ३ गुँजाये। ४ फाड़ने।
५ पृथ्वी।

२०

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥

२१

हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥

२२

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे ॥

२३

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥

संजय उवाच— २४

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥

गीता सब सुखों की नींव है, सिद्धान्त-रत्नों का भण्डार अथवा नवरस रूपी अमृत से भरा हुआ समुद्र है; खुला हुआ परम-धाम और सब विद्याओं की मूल भूमि है। —सन्त श्री ज्ञानेश्वर

२०

सब कौरवों को देख रण का साज सब पूरा किये।
शस्त्रादि चलने के समय अर्जुन कपि-ध्वज[1] धनु[2] लिये॥

२१

श्रीकृष्ण से कहने लगे आगे बढ़ा रथ लीजिये।
दोनों दलों के बीच में अच्युत! खड़ा कर दीजिये॥

२२

करलूं निरीक्षण[3] युद्ध में जो जो जुड़े रणधीर हैं।
इस युद्ध में माधव! मुझे जिन पर चलाने तीर हैं॥

२३

मैं देखलूं रण-हेतु जो आये यहां बलवान् हैं।
जो चाहते दुर्बुद्धि दुर्योधन-कुमति-कल्याण हैं॥

संजय ने कहा—

२४

श्रीकृष्ण[4] ने जब गुडाकेश[5]-विचार, भारत! सुन लिया।
दोनों दलों के बीच में जाकर खड़ा रथ को किया॥

---

१ जिसके रथ की ध्वजा पर हनुमान का चिन्ह था। २ धनुष। ३ देखना। ४ (हृषीकेश) इन्द्रियों के स्वामी। ५ नींद को जीतनेवाले (अर्जुन)।

२५

भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥

२६

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥

२७

श्वशुरान् सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ॥

२८

कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।
दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण ! युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥

२९

सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥

गीता उपनिषदों से चयन किये हुए आध्यात्मिक सत्य के सुन्दर पुष्पों का गुच्छा है । —स्वामी विवेकानन्द

२५

राजा, रथी, श्रीभीष्म, द्रोणाचार्य के जा सामने।
लो देखलो! कौरव कटक[1], अर्जुन! कहा भगवान ने॥

२६

तब पार्थ ने देखा वहाँ, सब हैं स्वजन[2] बूढ़े बड़े।
आचार्य भाई पुत्र मामा, पौत्र प्रियजन हैं खड़े॥

२७

स्नेही ससुर देखे खड़े, कौन्तेय ने देखा जहाँ।
दोनों दलों में देखकर, प्रिय बन्धु बान्धव ही वहाँ॥

२८

कहने लगे इस भांति तब, होकर कृपायुत[3] खिन्न[4]-से।
हे कृष्ण! रण में देखकर, एकत्र मित्र अभिन्न-से॥

२९

होते शिथिल[5] हैं अङ्ग सारे, सूख मेरा मुख रहा।
तन काँपता थर-थर तथा रोमाञ्च[6] होता है महा॥

---

१ सेना। २ कुटुम्बी। ३ परम करुणा से भरे हुए। ४ दुःखी। ५ ढीले। ६ रोएँ खड़े होना।

३०

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥

३१

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥

३२

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥

३३

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥

३४

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा ॥

Gita is India's contribution to the future religion of the world.

—Mr. Brucks

३०

गांडीव गिरता हाथ से, जलता समस्त[1] शरीर है।
मैं रह नहीं पाता खड़ा, मन भ्रमित और अधीर है॥

३१

केशव! सभी विपरीत[2] लक्षण दिख रहे, मन म्लान है।
रण में स्वजन सब मारकर, दिखता नहीं कल्याण है॥

३२

इच्छा नहीं जय राज्य की है, व्यर्थ ही सुख-भोग है।
गोविन्द! जीवन राज्य-सुख का क्या हमें उपयोग[3] है॥

३३

जिनके लिये सुख-भोग सम्पत्ति राज्य की इच्छा रही।
लड़ने खड़े हैं आश तज धन और जीवन की वही॥

३४

आचार्यगण, मामा, पितामह, सुत, सभी बूढ़े बड़े।
साले, ससुर, स्नेही, सभी प्रिय पौत्र[4] सम्बन्धी खड़े॥

---

१ सारा। २ उलटे। ३ लाभ। ४ पोते।

३५

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥

३६

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः ॥

३७

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥

३८

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥

३९

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥

संक्षेप में किन्तु निस्सन्दिग्ध रीति से वर्तमान कालीन हिन्दू-धर्म के तत्त्वों को समझा देनेवाला गीता की जोड़ का दूसरा ग्रन्थ संस्कृत साहित्य में है ही नहीं । —लोकमान्य बा० गं० तिलक



आया शरण हूँ आपकी मैं शिष्य शिक्षा दीजिये।
निश्चित कहो कल्याणकारी कर्म क्या मेरे लिये॥

३५

क्या भूमि[1], मधुसूदन ! मिले त्रैलोक्य का यदि राज्य भी ।
वे मारलें पर शस्त्र मैं उन पर न छोड़ूंगा कभी ॥

३६

इनको जनार्दन मारकर होगा हमें संताप ही ।
हैं आततायी[2] मारने से पर लगेगा पाप ही ॥

३७

माधव ! उचित वध है न इनका बन्धु हैं अपने सभी ।
निज बन्धुओं को मारकर क्या हम सुखी होंगे कभी ॥

३८

मति मन्द उनकी लोभ से, दिखता न उनको आप है ।
कुल-नाश से क्या दोष, प्रिय-जन-द्रोह से क्या पाप है ॥

३९

कुल-नाश दोषों का जनार्दन ! जब हमें सब ज्ञान है ।
फिर क्यों न ऐसे पाप से बचना भला भगवान है ॥

१ पृथ्वी का राज्य तो क्या । २ आग लगानेवाला, विष देनेवाला, हाथ में हथियार लेकर मारने के लिये आया हुआ, धन लूट कर ले जानेवाला और स्त्री या खेत का हरणकर्ता 'आततायी' कहलाता है ।

४०

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥

४१

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥

४२

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥

४३

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥

४४

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥

गीता शास्त्रों का दोहन है, गीता मेरे लिये केवल बाइबिल नहीं है, केवल कुरान नहीं है, मेरे लिये वह माता हो गई है। जो इस माता की शरण लेता है, उसे वह ज्ञानामृत से तृप्त करती है। —म० गांधी

४०

कुल नष्ट होते भ्रष्ट होता कुल-सनातन-धर्म है।
जब धर्म जाता आ दबाता पाप और अधर्म है॥

४१

जब वृद्धि होती पाप की कुल की बिगड़ती नारियां।
हे कृष्ण! फलती फूलती तब वर्णसंकर क्यारियां॥

४२

कुलघातकी को और कुल को ये गिराते पाप में।
होता न तर्पण पिण्ड यों पड़ते पितर संताप[1] में॥

४३

कुलघातकों के वर्णसंकर-कारकी[2] इस पाप से।
सारे सनातन, जाति, कुल के धर्म मिटते आप से॥

४४

इस भांति से कुल-धर्म जिनके कृष्ण! होते भ्रष्ट हैं।
कहते सुना है वे सदा पाते नरक में कष्ट हैं॥

---

१ दुःख। २ वर्णसंकर करनेवाले।

४५

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः॥

४६

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्॥

संजय उवाच—

४७

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादेऽर्जुनविषादयोगोनाम
प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

★

भारतवर्ष के धर्म में गीता, बुद्धि की प्रखरता, आचार की उत्कृष्टता एवं धार्मिक उत्साह का एक अपूर्व मिश्रण है। —डा० मेकनिकल

४५

हम राज्य सुख के लोभ से हा ! पाप यह निश्चय किये ।
उद्यत[1] हुए सम्बन्धियों के प्राण लेने के लिये ॥

४६

यह ठीक हो यदि शस्त्र ले मारें मुझे कौरव सभी ।
निःशस्त्र हो मैं छोड़ दूं करना सभी प्रतिकार[2] भी ॥

संजय ने कहा— ४७

रणभूमि में इस भांति कहकर पार्थ धनु-शर[3] छोड़के ।
अति शोक से व्याकुल हुए बैठे वहीं मुख मोड़के ॥

पहिला अध्याय समाप्त हुआ ॥ १ ॥



१ तय्यार २ बदला (सामना)। ३ धनुष-बाण।

द्वितीयोऽध्यायः

१

संजय उवाच—

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥

२

श्रीभगवानुवाच—

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥

३

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥

४

अर्जुन उवाच—

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥

Gita is the most beautiful, perhaps, the only true philosophical song existing in any known tongue.

—जरमनी के प्रसिद्ध विद्वान् MR. WILLIAM VON HUMBOLDT.

दूसरा अध्याय

१

संजय ने कहा—

ऐसे कृपायुत[1] अश्रुपूरित[2] दुःख से दहते हुए।
कौन्तेय से इस भांति मधुसूदन वचन कहते हुए॥

२

श्रीभगवान् ने कहा—

अर्जुन! तुम्हें संकट समय में क्यों हुआ अज्ञान है।
यह आर्य-अनुचित और नाशक स्वर्ग, सुख, सन्मान है॥

३

अनुचित नपुंसकता तुम्हें हे पार्थ! इसमें मत पड़ो।
यह क्षुद्र[3] कायरता परंतप! छोड़कर आगे बढ़ो॥

४

अर्जुन ने कहा—

किस भांति मधुसूदन! समर में भीष्म द्रोणाचार्य पर।
मैं बाण अरिसूदन[4] चलाऊँ वे हमारे पूज्यवर॥

---

१ परम करुणा से भरे हुए। २ आँखों में आँसू भरे हुए।
३ तुच्छ। ४ शत्रुओं को मारनेवाले (श्रीकृष्ण)।

५

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान् ॥

६

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥

७

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥

इससे मनुष्यमात्र अपनी पूर्णता तथा सर्वोत्कृष्ट आध्यात्मिक उन्नति को प्राप्त कर सकता है ।

—श्री अरविन्द

५

भगवन् ! महात्मा गुरु-जनों का मारना न यथेष्ट[1] है।
इससे जगत में मांग भिक्षा पेट-पालन श्रेष्ठ है॥
इन गुरुजनों को मार कर, जो अर्थ-लोलुप[2] हैं बने।
उनके रुधिर[3] से ही सने, सुख-भोग होंगे भोगने॥

६

जीतें उन्हें हम या हमें वे, यह न हमको ज्ञात[4] है।
यह भी नहीं हम जानते, हितकर हमें क्या बात है॥
जीवित न रहना चाहते हम, मार कर रण में जिन्हें।
धृतराष्ट्र-सुत कौरव वही, लड़ने खड़े हैं सामने॥

७

कायरपने से हो गया सब नष्ट सत्य-स्वभाव है।
मोहित हुई मति ने भुलाया धर्म का भी भाव है॥
आया शरण हूँ आपकी मैं शिष्य शिक्षा दीजिये।
निश्चित कहो कल्याणकारी कर्म क्या मेरे लिये॥

१ ठीक। २ अर्थ की कामनावाले। ३ खून। ४ मालूम।

८

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥

संजय उवाच—

९

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप ।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥

१०

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥

श्रीभगवानुवाच—

११

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥

ऐसा अपूर्व धर्म, ऐसा अपूर्व ऐक्य, केवल गीता में ही दृष्टिगोचर होता है, ऐसी अद्भुत धर्म-व्याख्या किसी भी देश में और किसी भी काल में, किसी ने की हो ऐसा जान नहीं पड़ता। बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय

८

धन-धान्य[1]-शाली राज्य निष्कंटक[2] मिले संसार में।
स्वामित्व[3] सारे देवताओं का मिले विस्तार में॥
कोई कहीं साधन मुझे फिर भी नहीं दिखता अहो।
जिससे कि इन्द्रिय-तापकारी[4] शोक सारा दूर हो॥

संजय ने कहा— ९

इस भांति कहकर कृष्ण से, राजन्! 'लड़ूंगा मैं नहीं'।
ऐसे वचन कह गुडाकेश अवाच्य[5] हो बैठे वहीं॥

१०

उस पार्थ से, रण-भूमि में जो, दुःख से दहने लगे।
हँसते हुए-से हृषीकेश तुरन्त यों कहने लगे॥

श्रीभगवान् ने कहा— ११

निःशोच्य[6] का कर शोक कहता बात प्रज्ञावाद की।
जीते मरे का शोक ज्ञानीजन नहीं करते कभी॥

---

१ धन-धान्य-पूर्ण। २ शत्रु-रहित। ३ स्वामीपन। ४ इन्द्रियों को सुखानेवाला। ५ मौन। ६ जो शोक करने योग्य नहीं।

१२

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥

१३

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥

१४

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥

१५

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥

१६

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥

अजल क्या है ? खुमारे बादये हस्ती उतर जाना । (चकबस्त)

Death is a stage...to be passed as we would pass from childhood to youth or from youth to manhood.

—SEARS.

१२

मैं और तू राजा सभी देखो कभी क्या थे नहीं।
यह भी असम्भव हम सभी अब फिर नहीं होंगे कहीं॥

१३

ज्यों बालपन, यौवन जरा[1] इस देह में आते सभी।
त्यों जीव पाता देह और, न धीर मोहित हों कभी॥

१४

शीतोष्ण[2] या सुख-दुःख-प्रद कौन्तेय! इन्द्रिय-भोग हैं।
आते व जाते हैं सहो सब नाशवत संयोग हैं॥

१५

नरश्रेष्ठ! वह नर श्रेष्ठ है इनसे व्यथा जिसको नहीं।
वह मोक्ष पाने योग्य है सुख दुख जिसे सम सब कहीं॥

१६

*जो है असत् रहता नहीं, सत् का न किन्तु अभाव है।
लखि अन्त इनका ज्ञानियों ने यों किया ठहराव है॥

१ बुढ़ापा। २ ठंडा-गरम। *वास्तव में जिनका अस्तित्व नहीं जैसे दुःख-सुख, हानि-लाभ आदि ये रह नहीं सकते और जिसका अस्तित्व है जैसे आत्मा उसका कभी अभाव नहीं हो सकता।

१७

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥

१८

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥

१९

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥

२०

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

२१

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥

बस इतना फ़र्क है इन्सान में और उसकी तुरबत में ।
वो है एक ढेर मिट्टी का ये है तसवीर मिट्टी की ॥—मंजर
जीव नित्य तुम केहि हित रोवा । —तुलसीदास
Dust thou art to dust returnest was not spoken of the soul... Longfellow

१७

यह याद रख अविनाशि[1] है जिसने किया जग व्याप्त[2] है।
अविनाशि का नाशक नहीं कोई कहीं पर्याप्त है॥

१८

इस देह में आत्मा अचिन्त्य[3] सदैव अविनाशी अमर।
पर देह उसकी नष्ट होती अस्तु अर्जुन! युद्ध कर॥

१९

है जीव मरने मारनेवाला यही जो मानते।
यह मारता मरता नहीं दोनों न वे जन जानते॥

२०

मरता न लेता जन्म, अब है, फिर यहीं होगा कहीं।
शाश्वत[4], पुरातन[5], अज[6], अमर, तन वध किये मरता नहीं॥

२१

अव्यय[7] अजन्मा नित्य अविनाशी इसे जो जानता।
कैसे किसी का वध कराता और करता है बता॥

---

१ जिसका नाश न हो सके। २ फैलाया। ३ चिन्तन से परे।
४ सदा रहनेवाला। ५ सदा एक स्वरूप। ६ अजन्मा। ७ नाशरहित।

२२

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥

२३

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥

२४

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥

२५

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥

२६

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥

There is no death ! what seems so is Transition.
LONGFELLOW.

The soul, immortal as its Sire, shall never die.
MONTGOMERY.

२२

जैसे पुराने त्याग कर नर वस्त्र नव बदलें सभी।
यों जीर्ण[1] तन को त्याग नूतन[2] देह धरता जीव भी॥

२३

आत्मा न कटता शस्त्र से है, आग से जलता नहीं।
सूखे न आत्मा वायु से, जल से कभी गलता नहीं॥

२४

छिदने न जलने और गलने सूखनेवाला कभी।
यह नित्य, निश्चल, थिर, सनातन[3] और है सर्वत्र भी॥

२५

इन्द्रिय पहुँच से है परे, मन-चिन्तना[5] से दूर है।
अविकार इसको जान दुख में व्यर्थ रहना चूर है॥

२६

यदि मानते हो नित्य मरता, जन्मता रहता यहीं।
तो भी महाबाहो! उचित ऐसी कभी चिन्ता नहीं॥

---

१ पुराने। २ नया। ३ सदा रहनेवाला। ४ आत्मा, बुद्धि, आदि सब कारणों का विषय नहीं होता (जाना नहीं जा सकता)। ५ इन्द्रियगोचर न होने से विचार करने में नहीं आता।

२७

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥

२८

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥

२९

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥

३०

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥

३१

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥

The seed dies into a new life and so does man.

GEORGE MACDONOLD

Death is itself nothing. but we fear to be, we know not what, we know not where. —DRYDEN

२७

जन्मे हुए मरते, मरे निश्चय जनम लेते कहीं।
ऐसी अटल जो बात है उसकी उचित चिन्ता नहीं॥

२८

†अव्यक्त प्राणी आदि में हैं मध्य में दिखते सभी।
फिर अन्त में अव्यक्त, क्या इसकी उचित चिन्ता कभी॥

२९

कुछ देखते आश्चर्य से, आश्चर्यवत कहते कहीं।
कोई सुने आश्चर्यवत, पहिचानता फिर भी नहीं॥

३०

सारे शरीरों में अमर आत्मा न वध होता किये।
फिर प्राणियों का शोक यों तुमको न करना चाहिये॥

३१

फिर देखकर निज धर्म, हिम्मत हारना अपकर्म है।
इस धर्म-रण से बढ़ न क्षत्रिय का कहीं कुछ धर्म है॥

---

†जन्म से पहिले कोई नहीं दिखता, मरने के बाद भी सब अदृश्य हो जाते हैं, केवल बीच में ही शरीर मिलने पर दिखते हैं।

३२

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥

३३

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥

३४

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥

३५

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥

३६

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥

सम्भावित कहँ अपयस लाहू । मरण कोटि सम दारुण दाहू ॥
—तुलसीदास

३२

रण स्वर्गरूपी द्वार देखो खुल रहा है आप से।
यह प्राप्त होता क्षत्रियों को युद्ध भाग्य-प्रताप से॥

३३

तुम धर्म के अनुकूल रण से जो हटे पीछे कभी।
निज धर्म खो अपकीर्ति लोगे और लोगे पाप भी॥

३४

अपकीर्ति[1] गायेंगे सभी फिर इस अमिट अपमान से।
अपकीर्ति, सम्मानित पुरुष को अधिक प्राण-पयान[2] से॥

३५

'रण छोड़कर डर से भगा अर्जुन' कहेंगे सब यही।
सन्मान करते वीरवर जो तुच्छ जानेंगे वही॥

३६

कहने न कहने की खरी खोटी कहेंगे रिपु सभी।
सामर्थ्य-निन्दा से घना दुख और क्या होगा कभी॥

१ बदनामी। २ मृत्यु।

३७

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥

३८

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥

३९

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥

४०

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥

४१

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥

Either live with glorious victory or die with fame.

—Shakespeare

३७

जीते रहे तो राज्य लोगे, मर गये तो स्वर्ग में।
इस भांति निश्चय युद्ध का करके उठो अरिवर्ग में॥

३८

जय-हार, लाभालाभ[1], सुख-दुख सम[2] समझकर सब कहीं।
फिर युद्ध कर तुझको धनुर्धर! पाप यों होगा नहीं॥

३९

है सांख्य का यह ज्ञान अब सुन योग का शुभ ज्ञान भी।
हो युक्त जिससे कर्म-बन्धन पार्थ छूटेंगे सभी॥

४०

आरम्भ इसमें है अमिट यह विघ्न बाधा से परे।
इस धर्म का पालन तनिक भी सर्व संकट को हरे॥

४१

इस मार्ग में नित निश्चयात्मक-बुद्धि अर्जुन एक है।
बहु बुद्धियां बहु भेद-युत[3] उनकी जिन्हें अविवेक[4] है॥

१ लाभ-हानि। २ बराबर। ३ बहुत भेदवाली बहुत-सी बुद्धियाँ। ४ अज्ञान।

४२

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥

४३

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥

४४

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥

४५

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥

४६

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः ।
इष्ट और पूर्त ही श्रेष्ठ माननेवाले मूढ़ और कुछ कल्याणकारी नहीं मानते ।
—मुण्डकोपनिषद्

४२

*जो वेदवादी, कामनाप्रिय, स्वर्गइच्छुक, मूढ़ हैं।
'अतिरिक्त इसके कुछ नहीं' बातें बढ़ाकर यों कहें ॥

४३

नाना क्रिया विस्तारयुत, सुख-भोग के हित सर्वदा।
जिस जन्मरूपी कर्म-फल-प्रद बात को कहते सदा ॥

४४

उस बात से मोहित हुए जो भोग-वैभव-रत सभी।
व्यवसाय बुद्धि न पार्थ! उनकी हो समाधिस्थित कभी ॥

४५

हैं वेद त्रिगुणों के विषय, तू गुणातीत महान् हो!
तज योग क्षेम व द्वन्द्व नित सत्वस्थ आत्मावान् हो !!

४६

सब ओर करके प्राप्त जल, जितना प्रयोजन कूप का।
उतना प्रयोजन वेद से, विद्वान् ब्राह्मण का सदा ॥

---

*तीनों श्लोक मिलाकर पढ़िये—स्वर्गादि की कामना करनेवाले मूढ़ कर्मकाण्डात्मक जन्मकर्म फलप्रद नाना क्रियाओं के विस्तारवाली जिस वाणी को बढ़ाकर कहते हैं उससे मोहित मनुष्यों की बुद्धि निश्चयात्मक नहीं होती।

४७

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥

४८

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥

४९

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥

५०

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥

५१

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥

You need not be solicitous about power, nor strive after it. If you be wise and good, it will follow you though you should not wish it. --KING ALFRED

४७

अधिकार केवल कर्म करने का, नहीं फल में कभी।
होना न तू फल-हेतु[1] भी, मत छोड़ देना कर्म भी॥

४८

आसक्ति सब तज सिद्धि और असिद्धि मान समान ही।
योगस्थ[2] होकर कर्म कर, है योग समता-ज्ञान ही*॥

४९

इस बुद्धियोग महान से सब कर्म अतिशय हीन हैं।
इस बुद्धि की अर्जुन! शरण लो चाहते फल दीन हैं॥

५०

जो बुद्धि-युत है पाप-पुण्यों में न पड़ता है कभी।
बन योग-युत, है योग ही यह कर्म में कौशल सभी॥

५१

नित बुद्धि-युत हो कर्म के फल त्यागते मतिमान हैं।
वे जन्म-बन्धन तोड़ पद पाते सदैव महान हैं॥

१ कर्म-फल की वासनावाला मत हो। २ योग में स्थित। *सिद्धि और असिद्धि में समभाव रखना ही योग है।

५२

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥

५३

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥

५४

अर्जुन उवाच—

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥

५५

श्रीभगवानुवाच—

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥

५६

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥

So long as the mentality is inconstant and inconsequent, it is worthless.

५२

इस मोह के गंदले सलिल से पार मति होगी जभी।
वैराग्य होगा सब विषय में जो सुना सुनना अभी॥

५३

*श्रुति-भ्रान्त बुद्धि समाधि में निश्चल अचल होगी जभी।
हे पार्थ! योग समत्व होगा प्राप्त यह तुझको तभी॥

५४

अर्जुन ने कहा—

केशव? किसे दृढ़-प्रज्ञजन अथवा समाधिस्थित कहें।
थिर-बुद्धि कैसे बोलते, बैठें, चलें कैसे रहें॥

५५

श्रीभगवान ने कहा—

हे पार्थ! मन की कामना जब छोड़ता है जन सभी।
हो आप आपे में मगन दृढ़-प्रज्ञ होता है तभी॥

५६

सुख में न चाह, न खेद जो दुख में कभी अनुभव करे।
थिर-बुद्धि वह मुनि, राग एवं क्रोध भय से जो परे॥

*अनेक प्रकार के सिद्धान्तों को सुनने से विचलित हुई।

५७

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

५८

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

५९

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥

६०

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥

६१

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

...Be free from all disorders of the mind, from all violent passion and fear, as well as languor voluptuousness, and anger, that we may possess that tranquillity and security which confer alike consistency and dignity. —CICERO.

५७

शुभ या अशुभ जो भी मिले उसमें न हर्ष न शोक ही।
निःस्नेह[1] जो सर्वत्र है, थिर-बुद्धि होता है वही॥

५८

हे पार्थ! ज्यों कछुआ समेटे अङ्ग चारों ओर से।
थिर-बुद्धि जब यों इन्द्रियां सिमटें विषय की ओर से॥

५९

होते विषय सब दूर हैं आहार जब जन त्यागता।
रस किन्तु रहता, ब्रह्म को कर प्राप्त वह भी भागता॥

६०

कौन्तेय! करते यत्न इन्द्रिय-दमन हित विद्वान हैं।
मन किन्तु बल से खैंच लेती इन्द्रियां बलवान हैं॥

६१

उन इन्द्रियों को रोक, बैठे योग[2]-युत मत्पर[3] हुआ।
आधीन जिसके इन्द्रियां, दृढ़-प्रज्ञ वह नित नर हुआ॥

---

१ मोह रहित। २ समाहित चित्त होकर। ३ मुझमें लगा हुआ।

६२

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥

६३

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥

६४

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥

६५

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥

६६

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
नचाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥

...Who has not ceased from evil......is without peace or concentration or whose mind has not been tranquillised cannot attain to Him.

—कठोपनिषद्

६२

चिन्तन विषय का, सङ्ग विषयों में बढ़ाता है तभी।
फिर संग से हो कामना, हो कामना से क्रोध भी॥

६३

फिर क्रोध से है मोह, सुधि[1] को मोह करता भ्रष्ट है।
यह सुधि गए फिर बुद्धि विनशे, *बुद्धि-विनशे नष्ट है॥

६४

पर राग-द्वेष-विहीन सारी इन्द्रियां आधीन कर।
फिर भोग करके भी विषय, रहता सदैव प्रसन्न नर॥

६५

पाकर प्रसाद पवित्र जन के, दुःख कट जाते सभी।
जब चित्त नित्य प्रसन्न रहता, बुद्धि दृढ़ होती तभी॥

६६

रहकर अयुक्त[2] न बुद्धि उत्तम भावना होती कहीं।
बिन भावना नहिं शांति और अशांति में सुख है नहीं॥

१ स्मरण शक्ति। *बुद्धि नष्ट हो जाने से सर्वस्व नष्ट हो जाता है।
२ योग (साधना) रहित।

६७

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ।।

६८

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।

६९

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ।।

७०

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ।।

एहि जग यामिनि जागहिं जोगी । परमारथी प्रपंच वियोगी ।।
—तुलसीदास

६७

सब विषय विचरित इन्द्रियों में, साथ मन जिसके रहे।
वह बुद्धि हर लेती, पवन से नाव ज्यों जल में बहे॥

६८

चहुँ ओर से इन्द्रिय-विषय से, इन्द्रियां जब दूर ही।
रहती हटीं जिसकी सदा, दृढ़-प्रज्ञ होता है वही॥

६९

सबकी निशा तब जागता योगी पुरुष हे तात! है।
जिसमें सभी जन जागते, ज्ञानी पुरुष की रात है॥

७०

सब ओर से परिपूर्ण जलनिधि में सलिल[1] जैसे सदा।
आकर समाता, किन्तु अविचल[2] सिन्धु रहता सर्वदा॥
इस भांति ही जिसमें विषय जाकर समा जाते सभी।
वह शांति पाता है, न पाता काम-कामी[3] जन कभी॥

---

१ पानी। २ अचल। ३ भोगों को चाहनेवाला।

७१

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥

७२

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सांख्ययोगोनाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥





Right conduct uninfluenced by the desire or aversion......forms the path to heaven......

—पंचास्तिकायसार

७१

सब त्याग इच्छा कामना, जो नर विचरता नित्य ही।
मद और ममता हीन होकर, शांति-पद पाता वही॥

७२

यह पार्थ ! ब्राह्मीस्थिति[1] इसे पा नर न मोहित हो कभी।
निर्वाण[2] पद हो प्राप्त इसमें ठैर अन्तिम काल भी॥

दूसरा अध्याय समाप्त हुआ॥ २॥

卐

卐

१ कर्मयोग की सर्वोच्च और सर्वोत्तम स्थिति को ब्राह्मीस्थिति कहते हैं। इसके प्राप्त हो जाने पर फिर मोह नहीं रहता। २ मोक्ष।

तृतीयोऽध्यायः

अर्जुन उवाच—

१

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥

२

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥

श्रीभगवानुवाच—

३

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥

४

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥

Every mental and physical blow that is given to the soul, by which, as it were, fire is struck from it, and by which its own power and knowledge are discovered, is KARMA. We are all doing Karma at all the time. —स्वामी विवेकानन्द

तीसरा अध्याय

१

अर्जुन ने कहा—

यदि हे जनार्दन! कर्म से तुम बुद्धि कहते श्रेष्ठ हो।
तो फिर भयंकर कर्म में मुझको लगाते क्यों कहो॥

२

उलझन भरे कह वाक्य, भ्रम-सा डालते भगवान हो।
वह बात निश्चय कर कहो जिससे मुझे कल्याण हो॥

३

श्रीभगवान् ने कहा—

पहले कही दो भांति निष्ठा[1], ज्ञानियों की ज्ञान[2] से।
फिर योगियों की योग-निष्ठा, कर्मयोग विधान से॥

४

आरम्भ बिन ही कर्म के निष्कर्म हो जाते नहीं।
सब कर्म ही के त्याग से भी सिद्धि जन पाते नहीं॥

---

१ साधना की परिपक्व अवस्था। २ सांख्ययोग अथवा ज्ञानयोग।

५

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥

६

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥

७

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥

८

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥

९

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥

It is better to be good and to be called wicked by men than to be wicked and esteemed good. —SAADI.

We must always work, we cannot live a minute without work. —स्वामी विवेकानन्द

५

बिन कर्म रह पाता नहीं कोई पुरुष पल भर कभी।
हो प्रकृति-गुण[1] आधीन करने कर्म पड़ते हैं सभी॥

६

कर्मेन्द्रियों को रोक जो मन से विषय-चिन्तन करे।
वह मूढ़ पाखण्डी कहाता दम्भ निज मन में भरे॥

७

जो रोक मन से इन्द्रियां आसक्ति बिन हो नित्य ही।
कर्मेन्द्रियों से कर्म करता श्रेष्ठ जन अर्जुन! वही॥

८

बिन कर्म से नित श्रेष्ठ नियमित-कर्म करना धर्म है।
बिन कर्म के तन भी न सधता कर नियत जो कर्म है॥

९

तज यज्ञ के शुभ कर्म, सारे कर्म बन्धन पार्थ! हैं।
अतएव तज आसक्ति सब कर कर्म जो यज्ञार्थ[2] हैं॥

---

१ प्रकृति से उत्पन्न सत्त्व, रज और तम। २ यज्ञ के लिये। यज्ञ ही विष्णु (सच्चिदानन्द व्यापक) है। विश्व नारायण के निमित्त सत्य सेवामय अनासक्त कर्म को यज्ञार्थ कर्म कहते हैं।

१०

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥

११

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥

१२

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥

१३

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥

१४

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।

—यजुर्वेद

१०

विधि ने प्रजा के साथ पहले यज्ञ को रच के कहा।
पूरे करे यह सब मनोरथ, वृद्धि हो इससे महा॥

११

मख[1] से करो तुम तुष्ट सुरगण, वे करें तुमको सदा।
ऐसे परस्पर तुष्ट हो, कल्याण पाओ सर्वदा॥

१२

मख-तृप्त हो सुर कामना पूरी करेंगे नित्य ही।
उनका दिया उनको न दे, जो भोगता तस्कर[2] वही॥

१३

जो यज्ञ में दे भाग खाते पाप से छुट कर तरें।
तन हेतु जो पापी पकाते पाप भक्षण वे करें॥

१४

सम्पूर्ण प्राणी अन्न से हैं, अन्न होता वृष्टि से।
यह वृष्टि होती यज्ञ से, *जो कर्म की शुभ सृष्टि से॥

---

१ यज्ञ। २ चोर। *यज्ञ कर्म से उत्पन्न होता है।

१५

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥

१६

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥

१७

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥

१८

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥

१९

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥

Praise be to them who having attained the innerself ......have become peaceful.

१५

फिर कर्म होते ब्रह्म से हैं, ब्रह्म अक्षर[1] से कहा।
यों यज्ञ में सर्वत्र-व्यापी ब्रह्म नित ही रम रहा॥

१६

चलता न जो इस भांति चलते चक्र के अनुसार है।
पापायु इन्द्रियलम्पटी वह व्यर्थ ही भू-भार है॥

१७

नित किन्तु जो जन आत्मरत[2] है आत्म-तृप्त विशेष है।
संतुष्ट आत्मा में, उसे करना नहीं कुछ शेष है॥

१८

उसको न कोई लाभ है करने न करने से कहीं।
हे पार्थ! प्राणीमात्र से उसको प्रयोजन है नहीं॥

१९

जब है यही, कर्त्तव्य कर, आसक्ति छोड़ सदैव ही।
जो कर्म यों[3] करता परम-पद नित्य नर पाता वही॥

---

१ अविनाशी। २ आत्मा में प्रीतिवाला। ३ आसक्ति छोड़कर।

२०

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥

२१

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥

२२

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥

२३

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥

२४

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥

Lives of great men all remind us
We can make our lives sublime,
And departing, leave behind us,
Footprints on the sands of time. —LONGFELLOW

२०

जनकादि ने भी सिद्धि पाई, कर्म ऐसे ही किये।
फिर लोकसंग्रह देख कर भी, कर्म करना चाहिये॥

२१

जो कार्य करता श्रेष्ठ जन, करते वही हैं और भी।
उसके प्रमाणित-पंथ[1] पर ही पैर धरते हैं सभी॥

२२

अप्राप्त मुझको कुछ नहीं, जो प्राप्त करना हो अभी।
त्रैलोक्य में करना न कुछ, पर कर्म करता मैं सभी॥

२३

आलस्य तजके पार्थ! मैं यदि कर्म में वरतूँ नहीं।
सब भांति मेरा अनुकरण[2] ही नर करेंगे सब कहीं॥

२४

यदि छोड़दूं मैं कर्म करना, लोक सारा भ्रष्ट हो।
मैं सर्व संकर का बनूं कर्ता, सभी जग नष्ट हो॥

---

१ बताया हुआ रास्ता। २ नकल।

२५

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥

२६

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥

२७

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥

२८

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥

२९

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥

मनुष्य अहंकार से मूढ़-बुद्धि होने के कारण अपने को ही उन कर्मों का कर्ता मान लेता है जो प्रकृति के गुणों द्वारा होते हैं ।

—योगवासिष्ठ

२५

ज्यों मूढ़ मानव कर्म करते नित्य कर्मासक्त हो।
यों लोकसंग्रह[1]-हेतु करता कर्म, विज्ञ विरक्त[2] हो॥

२६

ज्ञानी न डाले भेद कर्मासक्त[3] की मति में कभी।
वह योग-युत हो कर्म कर, उनसे कराये फिर सभी॥

२७

होते प्रकृति के ही गुणों से सर्व कर्म विधान से।
मैं कर्म करता, मूढ़-मानव मानता अभिमान से॥

२८

*गुण और कर्म विभाग के सब तत्व जो जन जानता।
होता न वह आसक्त गुण का खेल गुण में मानता॥

२९

गुण-कर्म में आसक्त होते प्रकृतिगुण मोहित सभी।
उन मंद मूढ़ों को करे विचलित न ज्ञानी जन कभी॥

१ लोक शिक्षा के लिये। २ अनासक्त। ३ कर्म में आसक्त अज्ञानी
*पांचों महाभूत, मन, बुद्धि, अहंकार, पांचों ज्ञानेन्द्रियां, पांचों कर्मेन्द्रियां, पांचों विषय, इनका समुदाय गुणविभाग है और इनकी परस्पर चेष्टायें कर्म-विभाग। इन सबसे आत्मा को निर्लेप जानना ही इनका तत्त्व है।

३०

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥

३१

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥

३२

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥

३३

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥

३४

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥

Whosoever...shall break...these least commandments... shall be called the least...but whosoever shall do...the same shall be called great......

St. Mathew

३०

अध्यात्म-मति से कर्म अर्पण कर मुझे आगे बढ़ो।
फल-आश ममता छोड़कर निश्चिन्त[1] होकर फिर लड़ो॥

३१

जो दोष-बुद्धि विहीन मानव नित्य श्रद्धायुक्त हैं।
मेरे सुमत अनुसार करके कर्म वे नर मुक्त हैं॥

३२

जो दोष-दर्शी मूढ़मति मत मानते मेरा नहीं।
वे सर्वज्ञान-विमूढ़ नर नित नष्ट जानो सब कहीं॥

३३

वर्तें सदा अपनी प्रकृति अनुसार ज्ञान-निधान भी।
निग्रह[2] करेगा क्या, प्रकृति अनुसार हैं प्राणी सभी॥

३४

अपने विषय में इन्द्रियों को राग भी है द्वेष भी।
ये शत्रु हैं, वश में न इनके चाहिये आना कभी॥

१ बेखटके। २ जबरदस्ती संयमन।

३५

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥

३६

अर्जुन उवाच—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥

३७

श्रीभगवानुवाच—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥

३८

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥

३९

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥

विषयों के भोगों से विषय-वासना की शान्ति नहीं होती, हवन से बढ़ती हुई अग्नि के समान यह काम-वासना नित्य बढ़ती ही जाती है ।

—महाभारत

३५

ऊँचे सुलभ पर-धर्म से निज विगुण धर्म महान है।
पर-धर्म भय-प्रद[1], मृत्यु भी निज धर्म में कल्याण है॥

३६

अर्जुन ने कहा—

भगवन्! कहो करना नहीं नर चाहता जब आप है।
फिर कौन बल से खींच कर उससे कराता पाप है॥

३७

श्रीभगवान ने कहा—

पैदा रजोगुण से हुआ यह काम ही यह क्रोध ही।
पेटू[2] महापापी कराता पाप है बैरी यही॥

३८

ज्यों गर्भ झिल्ली से, धुएँ से आग, शीशा धूल से।
यों काम से रहता ढका है, ज्ञान भी (आमूल) से॥

३९

यह काम शत्रु महान्, नित्य अतृप्त अग्नि समान है।
इससे ढका कौन्तेय! सारे ज्ञानियों का ज्ञान है॥

---

१ भय देनेवाला। २ जिसका पेट न भरे।

४०

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥

४१

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥

४२

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥

४३

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगोनाम
तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

लछमन देखत काम अनीका । रहहिं धीर तिनकी जगलीका ॥—तुलसीदास

Canst thou gain peace so long as thou dost conquer... .....the victory banner of......your powerfull enemy the host of sins. —ATMANUSHASHAN.

४०

मन, इन्द्रियों में, बुद्धि में यह वास बैरी नित करे।
इनके सहारे ज्ञान ढक, जीवात्म को मोहित करे॥

४१

इन्द्रिय-दमन करके करो फिर नाश शत्रु महान का।
पापी सदा यह नाशकारी ज्ञान का विज्ञान का॥

४२

हैं श्रेष्ठ इन्द्रिय, इन्द्रियों से पार्थ! मन मानो[1] परे।
मन से परे फिर बुद्धि, आत्मा बुद्धि से जानो परे॥

४३

यों बुद्धि से आत्मा परे है जान इसके ज्ञान को।
मन वश्य करके जीत दुर्जय काम शत्रु महान को॥

तीसरा अध्याय समाप्त हुआ॥ ३॥

卐

१ समझो।

चतुर्थोऽध्यायः

१

श्रीभगवानुवाच—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥

२

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥

३

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥

४

अर्जुन उवाच—

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥

ज्ञान गिरा, गोतीत अज, माया गुण गोपार ।
सोइ सच्चिदानन्दघन करत चरित्र अपार ॥

—तुलसीदास

चौथा अध्याय

श्रीभगवान् ने कहा—

१

मैंने कहा था सूर्य के प्रति योग यह अव्यय[1] महा।
फिर सूर्य ने मनु से कहा, इक्ष्वाकु से मनु ने कहा॥

२

यों राज-ऋषि परिचित हुए सुपरम्परागत योग से।
इस लोक में वह मिट गया बहु काल के संयोग से॥

३

मैंने समझकर यह पुरातन योग-श्रेष्ठ रहस्य[2] है।
तुझसे कहा सब क्योंकि तू मम भक्त और वयस्य[3] है॥

अर्जुन ने कहा—

४

पैदा हुए थे सूर्य पहले आप जन्मे हैं अभी।
मैं मानलूं कैसे कहा यह आपने उनसे कभी॥

---

१ अविनाशी। २ मर्म का विषय। ३ प्रिय सखा।

श्रीभगवानुवाच—

५

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ।।

६

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ।।

७

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।।

८

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ।।

९

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ।।

जब जब होइ धरम कै हानी । बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी ।।
तब तब प्रभु धर मनुज सरीरा । हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा ।।
असुर मार थापहिं सुरन्ह राखहिं निज श्रुति सेतु । —तुलसीदास

५

श्रीभगवान् ने कहा—

मैं और तू अर्जुन! अनेकों बार जन्मे हैं कहीं।
सब जानता हूँ मैं परंतप! ज्ञान तुझको है नहीं॥

६

यद्यपि अजन्मा, प्राणियों का ईश मैं अव्यय परम्।
पर निज प्रकृति आधीन कर, लूं जन्म माया से स्वयम्॥

७

हे पार्थ! जब-जब धर्म घटता और बढ़ता पाप ही।
तब-तब प्रकट मैं रूप अपना नित्य करता आप ही॥

८

सज्जन जनों का त्राण करने दुष्ट-जन-संहार-हित।
युग-युग प्रकट होता स्वयं मैं, धर्म के उद्धार हित॥

९

*जो दिव्य मेरा जन्म कर्म रहस्य से सब जान ले।
मुझमें मिले तन त्याग अर्जुन! फिर न वह जन जन्म ले॥

---

*अज अविनाशी सच्चिदानन्दघन सबके परम आश्रय केवल धर्म-स्थापन करने के लिये अपनी योगमाया से प्रकट होते हैं। ऐसा समझ कर अनन्य-मन से आसक्ति रहित उसका चिन्तन करनेवाले उसे तत्त्व से जानते हैं।

१०

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥

११

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥

१२

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥

१३

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥

१४

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥

भगवान आते हैं—भागवत-शक्ति और प्रेम के रूप में, मनुष्यों को अपनी ओर खींच लेते हैं, इसलिये कि मनुष्य उन्हीं का आश्रय ले और काम, क्रोध, राग, भय द्वन्दों से मुक्त हो, शान्ति और आनन्द में निवास करे।

—श्री अरविन्द

१०

मन्मय[1] ममाश्रित[2] जन हुए भय क्रोध राग-विहीन हैं।
तप यज्ञ से हो शुद्ध बहु[3] मुझमें हुए लवलीन हैं॥

११

जिस भांति जो भजते मुझे उस भांति दूं फल-भोग भी।
सब ओर से ही वर्तते मम मार्ग में मानव सभी॥

१२

इस लोक में करते फलेच्छुक[4] देवता-आराधना।
तत्काल होती पूर्ण उनकी कर्म फल की साधना॥

१३

मैंने बनाये कर्म गुण के भेद से चहुँ वर्ण भी।
*कर्ता उन्हों का जान तू, अव्यय अकर्ता मैं सभी॥

१४

फल की न मुझको चाह बँधता मैं न कर्मों से कहीं।
यों जानता है जो मुझे वह कर्म से बंधता नहीं॥

---

१ मत्परायण। २ मेरे आश्रित। ३ बहुत से मनुष्य। ४ कर्म के फल को चाहनेवाले। *उनके कर्ता मुझ अविनाशी परमेश्वर को तू अकर्ता ही जान।

१५

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्॥

१६

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥

१७

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥

१८

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥

१९

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥

Follow the great men and see what the world has at heart...... —EMERSON.

१५

यह जान कर्म मुमुक्षुपुरुषों[1] ने सदा पहिले किये।
उन पूर्वजों[2]-कृत कर्म अब तुम भी करो इस ही लिये॥

१६

क्या कर्म और अकर्म है भूले यही विद्वान् भी।
जो जान पापों से छुटो, वह कर्म कहता हूँ सभी॥

१७

हे पार्थ! कर्म अकर्म और विकर्म का क्या ज्ञान है।
यह जान लो सब, कर्म की गति गहन और महान है॥

१८

जो कर्म में देखे अकर्म, अकर्म में भी कर्म ही।
है योग-युत ज्ञानी वही, सब कर्म करता है वही॥

१९

ज्ञानी उसे पंडित कहें उद्योग जिसके हों सभी—
फल-वासना बिन, भस्म हों ज्ञानाग्नि में सब कर्म भी॥

१ मोक्ष चाहनेवाले पुरुष। २ पूर्वजों द्वारा किये गये।

२०

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ॥

२१

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥

२२

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥

२३

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥

२४

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥

If one becomes un-attached...........his past karmas fall off and a new one does not bind him. He, a learned shines forth like a jewel. —ATMANUSHASAN

२०

जो है निराश्रय[1] तृप्त नित, फल कामनाएँ तज सभी।
वह कर्म सब करता हुआ, कुछ भी नहीं करता कभी॥

२१

जो कामना तज, सर्वसंग्रह[2] त्याग, मन वश में करे।
केवल करे जो कर्म दैहिक[3], पाप से है वह परे॥

२२

बिन द्वेष द्वन्द्व असिद्धि सिद्धि समान हैं जिसको सभी।
जो है यदृच्छा-लाभ-तृप्त[4] न बद्ध[5] वह कर कर्म भी॥

२३

चित ज्ञान में जिनका सदा जो मुक्त संग-विहीन हों।
यज्ञार्थ करते कर्म उनके सर्व कर्म विलीन हों॥

२४

मख ब्रह्म से, ब्रह्माग्नि में, हवि ब्रह्म, अर्पण ब्रह्म है।
सब कर्म जिसको ब्रह्म, करता प्राप्त वह जन ब्रह्म है॥

---

१ सांसारिक आश्रय से रहित। २ सब भोगों की सामग्री।
३ शरीर सम्बन्धी। ४ जो कुछ मिले उसमें सन्तुष्ट। ५ नहीं बंधता।

२५

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥

२६

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥

२७

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥

२८

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥

२९

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥

जोग-अग्नि करि प्रकट तब, कर्म शुभाशुभ लाय ।
बुद्धि सिरावे ज्ञान-घृत, ममता-मल जरि जाय ॥ —तुलसीदास

२५

योगी पुरुष कुछ दैव-यज्ञ उपासना में मन धरें।
ब्रह्माग्नि[1] में कुछ यज्ञ द्वारा यज्ञ ज्ञानी जन करें॥

२६

कुछ होमते[2] श्रोत्रादि इन्द्रिय संयमों की आग में।
इन्द्रिय-अनल[3] में कुछ विषय शब्दादि आहुति दे रमें॥

२७

कर आत्म-संयमरूप योगानल प्रदीप्त सुज्ञान से।
कुछ प्राण एवं इन्द्रियों के कर्म होमें ध्यान से॥

२८

कुछ संयमी-जन[4] यज्ञ करते योग, तप से, दान से।
स्वाध्याय से करते यती, कुछ यज्ञ करते ज्ञान से॥

२९

कुछ प्राण में होमें अपान व प्राणवायु अपान में।
कुछ रोक प्राण अपान प्राणायाम ही के ध्यान में॥

---

१ परब्रह्म में एकाकीभाव से स्थित होना। २ इन्द्रियों को वश में करना। ३ इन्द्रियों से विषय ग्रहण करते हुए भी भस्म कर देते हैं। ४ अहिंसा आदि कठिन व्रतों से युक्त।

३०

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥

३१

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥

३२

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥

३३

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥

३४

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥

गुरु बिन भव निधि तरहिं कि कोई । जो विरंच शंकर सम होई ॥
होय विवेक मोह भ्रम भागा । तब रघुनाथ चरण अनुरागा ॥
—तुलसीदास

३०

*कुछ मिताहारी हवन करते, प्राण ही में प्राण हैं।
क्षय पाप यज्ञों से किये, ये यज्ञ-विज्ञ महान हैं॥

३१

जो यज्ञ का अवशेष खाते, ब्रह्म को पाते सभी।
परलोक तो क्या, यज्ञ-त्यागी को नहीं यह लोक भी॥

३२

बहु भांति से यों ब्रह्म-मुख[1] में यज्ञ का विस्तार है।
होते सभी हैं कर्म से, यह जानकर निस्तार है॥

३३

धन-यज्ञ से समझो सदा ही ज्ञान-यज्ञ प्रधान है।
सब कर्म का नित ज्ञान में ही पार्थ! पर्यवसान[2] है॥

३४

सेवा विनय प्रणिपात[3] पूर्वक प्रश्न पूछो ध्यान से।
उपदेश देंगे ज्ञान का तब तत्त्वदर्शी ज्ञान से॥

* नियमित आहार करनेवाले (अध्याय ६ श्लोक १७)। १ वेद। २ समाप्ति। ३ दण्डवत् प्रणाम।

३५

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥

३६

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥

३७

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥

३८

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥

३९

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥

Wisdom is greater than all terrestrial sciences and than all human knowledge.

FA-KHEN-PI-U-Buddhisam.

३५

होगा नहीं फिर मोह ऐसे श्रेष्ठ शुद्ध विवेक से।
तब ही दिखेंगे जीव मुझमें और तुझमें एक से॥

३६

तेरा कहीं यदि पापियों से घोर पापाचार हो।
इस ज्ञान-नय्या से सहज में पाप-सागर पार हो॥

३७

ज्यों पार्थ! पावक प्रज्वलित[1] ईंधन जलाती है सदा।
ज्ञानाग्नि सारे कर्म करती भस्म यों ही सर्वदा॥

३८

इस लोक में साधन पवित्र न और ज्ञान समान है।
योगी पुरुष पाकर समय पाता स्वयं ही ज्ञान है॥

३९

जो कर्म-तत्पर है जितेन्द्रिय और श्रद्धावान् है।
वह प्राप्त करके ज्ञान पाता शीघ्र शान्ति महान् है॥

---

१ जलती हुई।

४०

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥

४१

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ॥

४२

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानकर्मसंन्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

Fill then your heart with this knowledge and seek for the sources of life in the words dictated by Truth itself.

—EPISTLE TO DIOGNETUS

४०

जिसमें न श्रद्धा ज्ञान, संशयवान् डूबे सब कहीं।
उसके लिये सुख, लोक या परलोक कुछ भी है नहीं॥

४१

*तज योग-बल से कर्म, काटे ज्ञान से संशय सभी।
उस आत्म-ज्ञानी[1] को न बांधे कर्म बन्धन में कभी॥

४२

अज्ञान से जो भ्रम हृदय में, काट ज्ञान कृपान से।
अर्जुन खड़ा हो युद्ध कर, हो योग-आश्रित[2] ज्ञान से॥

चौथा अध्याय समाप्त हुआ॥ ४॥

---

* समत्व-बुद्धि-रूप योग द्वारा सब कर्म भगवत्-अर्पण करना।

१ ब्रह्म-परायण। २ योग में स्थित होकर।

पञ्चमोऽध्यायः

अर्जुन उवाच— १

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥

श्रीभगवानुवाच— २

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥

३

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥

४

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥

उमा जे राम चरण रत विगत काम मद क्रोध ।
निज प्रभुमय देखहिं जगत का सन करहिं विरोध ॥

पांचवां अध्याय

अर्जुन ने कहा—

१

कहते कभी हो योग को उत्तम कभी संन्यास को।
हे कृष्ण ! निश्चय कर कहो वह एक जिससे श्रेय हो॥

श्रीभगवान् ने कहा—

२

संन्यास एवं योग[1] दोनों मोक्षकारी हैं महा।
संन्यास[2] से पर कर्मयोग महान् हितकारी कहा॥

३

है नित्य संन्यासी न जिसमें द्वेष या इच्छा रही।
तज द्वन्द्व सुख से सर्व बन्धन-मुक्त होता है वही॥

४

हैं 'सांख्य' 'योग' विभिन्न कहते मूढ़, नहिं पण्डित कहें।
पाते उभय फल एक के जो पूर्ण साधन में रहें॥

---

१ कर्म-योग। २ कर्म-संन्यास।

५

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥

६

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥

७

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥

८

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥

९

प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥

He whose merit and demerit exhaust themselves without bearing fruit is an ascetic. He will never have the karmic inflow and will attain liberation.

—आत्मानुशासन

५

पाते सुगति जो सांख्य-ज्ञानी कर्म-योगी भी वही।
जो सांख्य, योग समान जाने तत्त्व पहिचाने सही॥

६

निष्काम-कर्म-विहीन हो, पाना कठिन संन्यास है।
मुनि कर्म-योगी शीघ्र करता ब्रह्म ही में वास है॥

७

जो योग युत है, शुद्ध मन, निज आत्मयुत[1] देखे सभी।
वह आत्म-इन्द्रिय-जीत जन, नहिं लिप्त करके कर्म भी॥

८

*तत्त्वज्ञ समझे युक्त मैं करता न कुछ खाता हुआ।
पाता निरखता सूँघता सुनता हुआ जाता हुआ॥

९

छूते व सोते सांस लेते छोड़ते या बोलते।
वर्तें विषय में इन्द्रियाँ दृग बन्द करते खोलते॥

१ सब प्राणियों का आत्मा जिसका आत्मा हो गया हो।
* ८, ९ दोनों श्लोक मिलाकर अर्थ पूरा होता है।

१०

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥

११

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥

१२

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥

१३

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥

१४

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥

जो मनुष्य राग में रत रहते हैं वे अपने ही बनाये जाल में ऐसे फँस जाते हैं जैसे मकड़ी अपने जाल में। धीर पुरुष इस जाल को काट कर सब दुःखों से रहित हो जाते हैं। —धम्मपद (बुद्ध)

१०

आसक्ति तज जो ब्रह्म-अर्पण कर्म करता आप है।
*जैसे कमल को जल नहीं लगता उसे यों पाप है॥

११

मन, बुद्धि, तन से और केवल इन्द्रियों से भी कभी।
तज संग, योगी कर्म करते आत्म-शोधन-हित सभी॥

१२

फल से सदैव विरक्त हो चिर-शांति पाता युक्त[1] है।
फल-कामना में सक्त हो बँधता सदैव अयुक्त है॥

१३

सब कर्म तज मन से जितेन्द्रिय जीवधारी मोद से।
बिन कुछ कराये या किये नव-द्वार-पुर में नित बसे॥

१४

कर्तृत्व[2] कर्म न कर्म-फल-संयोग जगदीश्वर कभी।
रचता नहीं अर्जुन! सदैव स्वभाव करता है सभी॥

*जैसे कमल के पत्ते को जल नहीं लगता ऐसे उसे पाप नहीं लगता। १ सकामी पुरुष। २ कर्तापन।

१५

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ।।

१६

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ।।

१७

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ।।

१८

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ।।

१९

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ।।

यद्यपि सम नहिं राग न रोषू । गहहिं न पाप पुण्य गुन दोषू ।।
कर्म प्रधान विश्व करि राखा । जो जस करै सो तस फल चाखा ।।
—तुलसीदास

१५

ईश्वर न लेता है किसी का पुण्य अथवा पाप ही।
है ज्ञान माया से ढका यों जीव मोहित आप ही॥

१६

पर दूर होता ज्ञान से जिनका हृदय-अज्ञान है।
करता प्रकाशित 'तत्त्व' उनका ज्ञान सूर्य समान है॥

१७

तन्निष्ठ[1] तत्पर[2] जो उसी में, बुद्धि मन धरते वहीं।
वे ज्ञान से निष्पाप होकर जन्म फिर लेते नहीं॥

१८

विद्या-विनय-युत-द्विज, श्वपच[3], चाहे गऊ, गज, श्वान है।
सबके विषय में ज्ञानियों की दृष्टि एक समान है॥

१९

जो जन रखें मन साम्य में वे जीत लेते जग यहीं।
परब्रह्म सम निर्दोष है, यों ब्रह्म में वे सब कहीं॥

१ एकाकी भाव। २ तत्परायण। ३ चाण्डाल।

२०

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥

२१

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥

२२

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥

२३

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥

२४

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥

मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षापूर्ण चित्त से जो चारों दिशाओं को व्याप्त कर देता है, सर्वत्र सर्वात्मरूप होकर सर्व जगत् को अद्वेषमय चित्त से भर देता है वह 'ब्रह्म प्राप्त' है। मज्झिम निकाय

२०

प्रिय वस्तु पा न प्रसन्न, अप्रिय पा न जो सुख-हीन है।
निर्मोह दृढ़-मति ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म में लवलीन है॥

२१

नहिं भोग-विषयासक्त जो जन आत्म-सुख पाता वही।
वह ब्रह्मयुत, अनुभव करे अक्षय महासुख नित्य ही॥

२२

जो बाहरी संयोग से हैं भोग दुखकारण सभी।
है आदि उनका अन्त, उनमें विज्ञ नहिं रमते कभी॥

२३

जो काम-क्रोधावेग सहता है मरण पर्यन्त ही।
संसार में योगी वही नर सुख सदा पाता वही॥

२४

*जो आत्मरत अन्तः सुखी है ज्योति जिसमें व्याप्त है।
वह युक्त ब्रह्म-स्वरूप हो निर्वाण करता प्राप्त है॥

---

* जो आत्मा में सुख पाता है, आत्मा में रमण करता है और आत्मा में जिसके प्रकाश है।

२५

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥

२६

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥

२७

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥

२८

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥

२९

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मसंन्यासयोगो
नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

२५

निष्पाप जो कर आत्म-संयम द्वन्द्व-बुद्धि-विहीन हैं।
रत जीवहित में, ब्रह्म में होते वही जन लीन हैं॥

२६

यति काम क्रोध विहीन जिनमें आत्म-ज्ञान प्रधान है।
जीता जिन्होंने मन उन्हें सब ओर ही निर्वान है॥

२७

धर दृष्टि भृकुटी मध्य में तज बाह्य विषयों को सभी।
नित *नासिकाचारी किये सम प्राण और अपान भी॥

२८

वश में करे मन बुद्धि इन्द्रिय मोक्ष में जो युक्त है।
भय क्रोध इच्छा त्याग कर वह मुनि सदा ही मुक्त है॥

२९

जाने मुझे तप यज्ञ भोक्ता लोक स्वामी नित्य ही।
सब प्राणियों का मित्र जाने शांति पाता है वही॥

पाँचवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥ ५॥

* नासिका में विचरनेवाला।

षष्ठोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच—

१

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥

२

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन॥

३

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥

४

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥

जिसकी तृष्णा नष्ट होगई, राग से जो विमुक्त है······उसे महाप्राज्ञ कहते हैं······वह निर्वाण प्राप्त करता है। —धम्मपद

छठा अध्याय

श्रीभगवान् ने कहा—

१

फल-आश तज, कर्तव्य कर्म सदैव जो करता, वही—
योगी व संन्यासी, न जो बिन अग्नि या बिन कर्म ही ॥

२

वह योग ही समझो जिसे संन्यास कहते हैं सभी ।
संकल्प के संन्यास बिन बनता नहीं योगी कभी ॥

३

जो योग-साधन चाहता मुनि, हेतु उसका कर्म[१] है ।
हो योग में आरूढ़, उसका हेतु उपशम[२] धर्म है ॥

४

जब दूर विषयों से, न हो आसक्त कर्मों में कभी ।
संकल्प त्यागे सर्व, योगारूढ़ कहलाता तभी ॥

---

१ निष्काम कर्म ।   २ सब संकल्प का अभाव ।

५

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥

६

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥

७

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥

८

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥

९

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥

Know thyself and thou shalt know the Universe and the Gods.

Inscription of the Temple of Delphi.

५

उद्धार अपना आप कर, निज[1] को न गिरने दे कभी।
नर आप ही है शत्रु अपना, आप ही है मित्र भी॥

६

जो जीत लेता आपको वह बन्धु अपना आप ही।
जाना न अपने को स्वयं रिपु सी करे रिपुता वही॥

७

अति शान्त जन, मन जीत का आत्मा सदैव समान है।
सुख-दुःख, शीतल-ऊष्ण अथवा मान या अपमान है॥

८

कूटस्थ[2] इन्द्रियजीत जिसमें ज्ञान है विज्ञान है।
वह युक्त[3] जिसको स्वर्ण, पत्थर, धूल एक समान है॥

९

वैरी, सुहृद, मध्यस्थ[4], साधु, असाधु जिनसे द्वेष है।
बान्धव, उदासी[5], मित्र में सम बुद्धि पुरुष विशेष है॥

---

१ अपने को। २ विकार-रहित स्थितिवाला। ३ वह योगी युक्त कहलाता है। ४ दोनों ओर की भलाई चाहनेवाला। ५ किसी की भी बुराई-भलाई न चाहनेवाला।

१०

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥

११

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥

१२

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥

१३

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥

१४

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥

···'एकान्त में पालथी मारकर गर्दन से कमर तक शरीर सीधा रखकर जो···'जागृत अन्तःकरण से श्वास खींचता है···'अभ्यास करता है···'वह अपने···'को भली भांति जानता है। —दीघ निकाय

१०

चित-आत्म-संयम नित्य एकाकी[1] करे एकान्त में।
तज आश-संग्रह नित निरन्तर योग में योगी रमें॥

११

आसन धरे शुचि-भूमि पर थिर, ऊँच नीच न ठौर हो।
कुश पर बिछा मृगछाल, उस पर वस्त्र पावन और हो॥

१२

एकाग्र कर मन, रोक इन्द्रिय चित्त के व्यापार[2] को।
फिर आत्म-शोधन हेतु बैठे नित्य योगाचार को॥

१३

होकर अचल, दृढ़, शीश ग्रीवा[3] और काया सम करे।
दिशि अन्य अवलोके नहीं नासाग्र[4] पर ही दृग धरे॥

१४

बन ब्रह्मचारी शान्त, मन-संयम करे भय-मुक्त हो।
हो मत्परायण चित्त मुझमें ही लगाकर युक्त हो॥

---

१ अकेला। २ चित्त और इन्द्रियों की क्रिया। ३ गर्दन।
४ नाक का आगेवाला भाग।

१५

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः ।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥

१६

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥

१७

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥

१८

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥

१९

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥

When water is still, it reflects objects like a mirror. This stillness, this perfect level is the model of the sage.

—Chwangtse (China)

१५

यों जो नियत-चित[1]-युक्त योगाभ्यास में रत नित्य ही।
मुझमें टिकी निर्वाणपद-प्रद शांति पाता है वही॥

१६

यह योग अति खाकर न सधता है न अति उपवास से।
सधता न अतिशय[2] नींद अथवा जागरण[3] के त्रास से॥

१७

जब युक्त सोना जागना आहार और विहार हो।
हो दुःख-हारी योग जब परिमित[4] सभी व्यवहार हो॥

१८

संयत[5] हुआ चित आत्म ही में नित्य रम रहता जभी।
रहती न कोई कामना नर युक्त कहलाता तभी॥

१९

अविचल रहे बिन वायु दीपक-ज्योति जैसे नित्य ही।
है चित्तसंयत[6] योग-साधक युक्त की उपमा वही॥

---

१ स्वाधीन मनवाला। २ बहुत। ३ जागना। ४ नपा-तुला।
५ वश में किया हुआ। ६ मन वश में करनेवाला।

२०

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥

२१

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥

२२

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥

२३

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥

२४

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥

Devotion to God increases in the same proportion as attachment to sense objects decreases.

—RAM KRISHNA

२०

रमता जहां चित योग-सेवन से निरुद्ध[1] सदैव है।
जब देख अपने आपको सन्तुष्ट आत्मा में रहे॥

२१

इन्द्रिय-अगोचर[2] बुद्धि-गम्य[3] अनन्त सुख अनुभव करे।
जिसमें रमा योगी न डिगता तत्त्व से तिल भर परे॥

२२

पाकर जिसे जग में न उत्तम लाभ दिखता है कहीं।
जिसमें जमे जन को कठिन दुख भी डिगा पाता नहीं॥

२३

कहते उसे ही योग जिसमें सर्वदुःख-वियोग है।
दृढ़-चित्त होकर साधने के योग्य ही यह योग है॥

२४

संकल्प से उत्पन्न सारी कामनाएँ छोड़के।
मनसे सदा सब ओर से ही इन्द्रियों को मोड़के॥

---

१ रोका हुआ। २ इन्द्रियों से अतीत। ३ बुद्धिद्वारा पाने योग्य।

२५

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥

२६

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥

२७

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥

२८

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥

२९

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥

The Eternal is seen when the mind is at rest. When the sea of mind is troubled by the winds of desire, all devine vision is impossible. —RAM KRISHNA.



ध्यानावस्थित श्रीकृष्ण

२५

हो शान्त क्रमशः[1] धीर मति से आत्म-सुस्थिर[2] मन करे।
कोई विषय का फिर न किंचित् चित्त में चिन्तन करे॥

२६

यह मन चपल अस्थिर जहां से भाग कर जाये परे।
रोके वहीं से और फिर आधीन आत्मा के करे॥

२७

जो ब्रह्मभूत[3] प्रशान्त-मन[4] जन रज-रहित[5] निष्पाप है।
उस कर्मयोगी को परम सुख प्राप्त होता आप है॥

२८

निष्पाप हो इस भांति जो करता निरन्तर योग है।
वह ब्रह्म-प्राप्ति-स्वरूप-सुख करता सदा उपभोग है॥

२९

युक्तात्म समदर्शी पुरुष सर्वत्र ही देखे सदा।
मैं प्राणियों में और प्राणीमात्र मुझमें सर्वदा॥

१ क्रम-क्रम से। २ मन को आत्मा में स्थिर करे। ३ जीवन-मुक्त—(सब कुछ ब्रह्म ही समझनेवाला)। ४ शान्त मनवाला। ५ जिसमें रजोगुण न हो।

३०

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥

३१

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥

३२

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥

अर्जुन उवाच— ३३

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ॥

३४

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥

The Lord who is established in the secret place of every soul, pervades the whole universe.

—Swetaswatara Upnishad

३०

जो देखता मुझमें सभी को और मुझको सब कहीं।
मैं दूर उस नर से नहीं, वह दूर मुझसे है नहीं॥

३१

एकत्व-मति से जान जीवों में मुझे नर नित्य ही।
भजता रहे जो, सर्वथा कर कर्म मुझमें है वही॥

३२

सुख-दुःख अपना और औरों का समस्त समान है।
जो जानता अर्जुन! वही योगी सदैव प्रधान है॥

अर्जुन ने कहा—

३३

जो *साम्य-मति से प्राप्य तुमने योग मधुसूदन! कहा।
मन की चपलता से महा अस्थिर मुझे वह दिख रहा॥

३४

हे कृष्ण! मन चञ्चल हठी बलवान् है दृढ़ है घना।
मन साधना दुष्कर[१] दिखे जैसे हवा का बांधना॥

*साम्य बुद्धि से प्राप्त होनेवाला। १ कठिन।

श्रीभगवानुवाच—

३५

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥

३६

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥

अर्जुन उवाच—

३७

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥

३८

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥

३९

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥

The mind is difficult to restrain, light, running whither it pleases; to control it is a helpful thing; controlled, it secures happiness, —DHAMMAPADA

श्रीभगवान् ने कहा— ३५

चंचल असंशय मन महाबाहो ! कठिन साधन घना।
अभ्यास और विराग से पर पार्थ ! होती साधना॥[1]

३६

जीता न जो मन, योग है दुष्प्राप्य[2] मत मेरा यही।
मन जीत कर जो यत्न करता प्राप्त करता है वही॥

अर्जुन ने कहा— ३७

जो योग-विचलित[3] यत्न-हीन परन्तु श्रद्धावान है।
पा योग-सिद्धि न, कौन गति पाता कहो भगवान है ?

३८

मोहित निराश्रय, ब्रह्म-पथ में हो उभय पथ-भ्रष्ट क्या।
वह बादलों-सा छिन्न हो, होता सदैव विनष्ट क्या ?

३९

हे कृष्ण ! करुणा कर सकल सन्देह मेरा मेटिये।
तज कर तुम्हें है कौन यह भ्रम दूर करने के लिये ?

---

१ मन के निग्रह की सिद्धि। २ कठिनाई से प्राप्त होनेवाला। ३ योग से चलायमान।

श्रीभगवानुवाच—

४०

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति॥

४१

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते॥

४२

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्॥

४३

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन॥

४४

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते॥

The work of righteousness shall be peace; and the effect of righteousness, quietness and assurance for ever.

—Isaiah

श्रीभगवान् ने कहा—

४०

इस लोक में परलोक में वह नष्ट होता है नहीं।
कल्याणकारी-कर्म करने में नहीं दुर्गति कहीं॥

४१

शुभ लोक पाकर पुण्यवानों का, रहे वर्षों वहीं।
फिर योग-विचलित जन्मता श्रीमान शुचि[1] के घर कहीं॥

४२

या जन्म लेता श्रेष्ठ ज्ञानी योगियों के वंश में।
दुर्लभ सदा संसार में है जन्म ऐसे अंश में॥

४३

पाता वहां फिर पूर्व-मति-संयोग वह नर-रत्न है।
उस बुद्धि से फिर सिद्धि के करता सदैव प्रयत्न है॥

४४

हे पार्थ! पूर्वाभ्यास से खिंचता उधर लाचार हो।
हो योग-इच्छुक वेद-वर्णित[2] कर्म-फल से पार हो॥

---

१ शुद्ध आचरणवाले। २ शब्द ब्रह्म से परे।

४५

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥

४६

तपस्विभ्योऽधिकोयोगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥

४७

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे आत्मसंयमयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

आपा मेटै हरि भजै, तन मन तजै विकार।
निरवैरी सब जीव सों, दादू यह मत सार॥

—दादू

४५

अति यत्न से वह योगसेवी[1] सर्वपाप-विहीन हो।
बहु जन्म पीछे सिद्ध होकर परम-गति में लीन हो॥

४६

सारे तपस्वी, ज्ञानियों से, कर्मनिष्ठों[2] से सदा।
हैं श्रेष्ठ योगी[3], पार्थ! हो इस हेतु योगी सर्वदा॥

४७

सब योगियों में मानता मैं युक्ततम[4] योगी वही।
श्रद्धा-सहित मम ध्यान धर भजता मुझे जो नित्य ही॥

छठा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६ ॥

१ योगी। २ सकाम कर्म करनेवाला। ३ कर्मयोगी। ४ सबसे श्रेष्ठ।

सप्तमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच—

१

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु॥

२

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते॥

३

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

४

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥

नर सहस्र महँ सुनहुं पुरारी। कोउ इक होय धर्म व्रत धारी॥
कोटि विरक्त मध्य श्रुति कहही। सम्यक ज्ञान सुकृति कोउ लहही॥
—तुलसीदास

सातवाँ अध्याय

१

श्रीभगवान् ने कहा—

मुझमें लगा कर चित्त मेरे आसरे कर योग भी।
जैसा असंशय पूर्ण जानेगा मुझे वह सुन सभी॥

२

विज्ञान-युत वह ज्ञान कहता हूँ सभी विस्तार में।
जो जान कर कुछ जानना रहता नहीं संसार में॥

३

कोई सहस्रों मानवों में सिद्धि[1] करना ठानता।
उन यत्नशीलों में मुझे कोई यथावत्[2] जानता॥

४

पृथ्वी, पवन, जल, तेज, नभ, मन, अहंकार व बुद्धि भी।
इन आठ भागों में विभाजित है प्रकृति मेरी सभी॥

---

१ मेरी प्राप्ति के लिये यत्न। २ तत्त्व से ठीक-ठीक।

५

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥

६

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥

७

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥

८

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥

९

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥

There is not a body, however small, which does not enclose a portion of the divine substance.

—Giordano Bruno

५

हे पार्थ ! वह 'अपरा' प्रकृति का जान लो विस्तार है।
फिर है 'परा' यह जीव जो संसार का आधार है॥

६

उत्पन्न दोनों से इन्हीं से जीव हैं जग के सभी।
मैं मूल सब संसार का हूँ और मैं ही अन्त भी॥

७

मुझसे परे कुछ भी नहीं संसार का विस्तार है।
जिस भांति माला में मणी, मुझमें गुंथा संसार है॥

८

आकाश में ध्वनि[1], नीर[2] में रस, वेद में ओंकार हूँ।
पौरुष पुरुष में, चांद सूरज में प्रभामय सार हूँ॥

९

शुभ गन्ध वसुधा[3] में सदा मैं प्राणियों में प्राण हूँ।
मैं अग्नि में हूँ तेज, *तपियों में तपस्या ज्ञान हूँ॥

---

१ शब्द। २ जल। ३ पृथ्वी। *तपस्वियों में तप हूँ!

१०

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥

११

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥

१२

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥

१३

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥

१४

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥

हरि माया कृत दोष गुण, बिन हरि भजन न जाहिं ।
भजिय राम सब काम तजि, अस बिचार मन माहिं ॥

—तुलसीदास

१०

हे पार्थ ! जीवों का सनातन बीज हूँ, आधार हूँ।
तेजस्वियों में तेज, बुध[१] में बुद्धि का भण्डार हूँ॥

११

हे पार्थ ! मैं कामादि राग-विहीन बल बलवान् का।
मैं काम भी हूँ धर्म के अविरुद्ध[२] विद्यावान् का॥

१२

सत और रज तम भाव मुझसे ही हुए हैं ये सभी।
मुझमें सभी ये किन्तु मैं उनमें नहीं रहता कभी॥

१३

इन त्रिगुण[३] भावों में सभी भूला हुआ संसार है।
जाने न अव्यय-तत्त्व मेरा जो गुणों से पार है॥

१४

यह त्रिगुणदैवी घोरमाया अगम और अपार है।
आता शरण मेरी वही जाता सहज में पार है॥

---

१ बुद्धिमान् २ विरुद्ध न जानेवाला। ३ सत्व-गुण, रजोगुण, तमोगुण।

१५

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥

१६

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥

१७

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥

१८

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥

१९

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥

राम भक्त ग चारि प्रकारा। ज्ञानी भुहि विशेष पियारा ॥

१५

पापी, नराधम[1], ज्ञान माया ने हरा[2] जिनका सभी।
वे मूढ़ आसुर बुद्धि-वश मुझको नहीं भजते कभी॥

१६

अर्जुन! मुझे भजता सुकृति-समुदाय चार प्रकार का।
जिज्ञासु[3], ज्ञानीजन, दुखी-मन, अर्थ-प्रिय[4] संसार का॥

१७

नित-युक्त ज्ञानी श्रेष्ठ, जो मुझमें अनन्यासक्त है।
मैं क्योंकि ज्ञानी को परम प्रिय, प्रिय मुझे वह भक्त है॥

१८

ये सब उदार, परन्तु मेरा प्राण ज्ञानी भक्त है।
वह युक्त जन, सर्वोच्च-गति मुझमें सदा अनुरक्त है॥

१९

जन्मान्तरों में जानकर, *'सब वासुदेव यथार्थ है'।
ज्ञानी मुझे भजता, सुदुर्लभ वह महात्मा पार्थ! है॥

---

१ मनुष्यों में नीच। २ हर लिया है। ३ ज्ञान-प्राप्ति की इच्छा वाले। ४ काम्य वासनाओंवाले। *सब कुछ ही वासुदेव है।

२०

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥

२१

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥

२२

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥

२३

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥

२४

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥

कस्तूरी कुण्डल बसे, मृग ढूँढै बन माहिं ।
ऐसे घट में पीव है, दुनियां जानै नाहिं ॥
—कबीर

२०

*निज प्रकृति-प्रेरित, कामना द्वारा हुए हत[1] ज्ञान से।
†कर नियम भजते विविध विध नर अन्य देव विधान से॥

२१

जो[2] जो कि जिस जिस रूप की पूजा करे नर नित्य ही।
उस भक्त की करता उसी में, मैं अचल श्रद्धा वही॥

२२

उस देवता को पूजता फिर वह, वही श्रद्धा लिये।
निज इष्ट-फल पाता सकल, निर्माण जो मैंने किये॥

२३

ये मन्दमति नर किन्तु पाते, अन्तवत फल सर्वदा।
सुर-भक्त सुर में, भक्त मेरे, आ मिलें मुझमें सदा॥

२४

अव्यक्त मुझको व्यक्त, मानव मूढ़ लेते मान हैं।
अविनाशि अनुपम भाव मेरा वे न पाते जान हैं॥

* अपने स्वभाव से प्रेरित हुए। १ ज्ञान से भ्रष्ट हुए। †जिस-जिस देवता की पूजा के जो-जो नियम हैं उनसे जो देवताओं को पूजते हैं। २ जो सकामी भक्त।

२५

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥

२६

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥

२७

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप ॥

२८

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥

२९

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥

क्रिया करम आचार भरम है, यही जगत का फन्दा ।
माया जाल में बांध अड़ाया, क्या जानै जन अन्धा ॥
—मलूक

२५

निज योग-माया से ढका सबको न मैं दिखता कहीं।
अव्यय अजन्मा मैं, मुझे पर मूढ़ नर जानें नहीं॥

२६

होंगे, हुए हैं, जीव जो मुझको सभी का ज्ञान है।
इनको किसी को किन्तु कुछ मेरी नहीं पहिचान है॥

२७

उत्पन्न इच्छा द्वेष से जो द्वन्द्व[1] जग में व्याप्त हैं।
उनसे परंतप! सर्व प्राणी मोह करते प्राप्त हैं॥

२८

पर पुण्यवान् मनुष्य जिनके छुट गये सब पाप हैं।
दृढ़[2] द्वन्द्व-मोह-विहीन हो भजते मुझे वे आप हैं॥

२९

करते ममाश्रित[3] जो जरा-मृति-मोक्ष के हित *साधना।
वे जानते हैं ब्रह्म, सब अध्यात्म, कर्म महामना[4]॥

१ सुख-दुःख, लाभ-हानि आदि। २ दृढ़ निश्चयवाले। ३ मेरी शरण लेकर। * बुढ़ापे और मोक्ष से छूटने का प्रयत्न। ४ महानुभाव।

३०

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

एक मना लागा रहे, अन्त मिलेगा सोइ।
दादू जाके मन बसै, ताकों दरसन होइ॥ —दादू

३०

अधि[1]-भूत, दैव व यज्ञ-युत, जो विज्ञ मुझको जानते।
वे युक्त-चित मरते समय में भी मुझे पहिचानते॥

सातवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ७ ॥

---

१ अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ सहित।

अष्टमोऽध्यायः

अर्जुन उवाच— १

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥

२

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥

श्रीभगवानुवाच— ३

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥

४

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥

नाद विन्दु ते अगम अगोचर, पांच तत्त्व से न्यारा ।
तीन गुनन से भिन्न है, पुरुष अलक्ख अपारा ॥

—कबीर

आठवाँ अध्याय

अर्जुन ने कहा—

१

हे कृष्ण ! क्या वह ब्रह्म ? क्या अध्यात्म है ? क्या कर्म है ?
अधिभूत कहते हैं किसे ? अधिदैव का क्या मर्म है ?

२

इस देह में अधियज्ञ कैसे और किसको मानते ?
मरते समय कैसे जितेन्द्रिय जन तुम्हें पहिचानते ?

श्रीभगवान् ने कहा—

३

अक्षर परम वह ब्रह्म है, अध्यात्म जीव स्वभाव ही* ।
जो भूतभावोद्भव[1] करे व्यापार कर्म कहा वही ॥

४

अधिभूत नश्वर भाव है, चेतन पुरुष अधिदैव ही ।
अधियज्ञ मैं सब प्राणियों के देह बीच सदैव ही ॥

---

*जीव ही अध्यात्म है ।

१ भूतों के भावों को उत्पन्न करनेवाला ।

५

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥

६

यं यं वाऽपि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥

७

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥

८

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥

९

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥

He is the wisest who keeps himself pure till the hour when the Diety Himself is pleased to relieve him.

—Socrates.

५

तन त्यागता जो अन्त में मेरा मनन करता हुआ।
मुझमें असंशय नर मिले वह ध्यान यों धरता हुआ॥

६

अन्तिम समय तन त्यागता जिस भाव से जन व्याप्त हो।
उसमें रंगा रहकर सदा, उस भाव ही को प्राप्त हो॥

७

इस हेतु मुझको नित निरन्तर ही सुमर कर युद्ध भी।
संशय नहीं, मुझमें मिले, मन बुद्धि मुझमें धर सभी॥

८

*अभ्यास-बल से युक्त योगी चित्त अपना साध के।
उत्तम पुरुष को प्राप्त होता है उसे आराध के॥

९

सर्वज्ञ[1] शास्ता[2] सूक्ष्मतम आदित्य[3]-सम तम से परे।
जो नित अचिन्त्य अनादि सर्वाधार का चिन्तन करे॥

*अभ्यास योग से युक्त दूसरी तरफ न जानेवाले चित्त से।
१ कवि। २ शासन करनेवाले। ३ सूर्य।

१०

प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥

११

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥

१२

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥

१३

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥

१४

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥

Take my yoke upon you and learn of me for I am meek and lowly in heart and ye shall find rest unto your souls. For my yoke is easy and my burden is light.

S. MATTHEW.

१०

कर योग-बल से प्राण भृकुटी[1]-मध्य अन्तिम काल में।
निश्चल हुआ वह भक्त मिलता दिव्य पुरुष विशाल में॥

११

अक्षर कहें वेदज्ञ, जिसमें राग तज यति जन जमें।
हों ब्रह्मचारी जिसलिये, वह पद सुनो संक्षेप में॥

१२

सब इन्द्रियों को साधकर निश्चल हृदय में मन धरे।
फिर प्राण मस्तक में जमाकर धारणा[2] योगी करे॥

१३

मेरा लगाता ध्यान कहता ॐ अक्षर ब्रह्म ही।
तन त्याग जाता जीव जो पाता परम गति है वही॥

१४

भजता मुझे जो जन सदैव अनन्य मन से प्रीति से।
नित युक्त योगी वह मुझे पाता सरल-सी रीति से॥

---

१ भौंह। २ योग धारणा

१५

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥

१६

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥

१७

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥

१८

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥

१९

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥

राम चरण पहिचान बिनु, मिटै न मन की दौर ।
जन्म गँवाये बादिही, रटत पराये पौर ॥

—तुलसीदास

१५

पाए हुए हैं सिद्धि-उत्तम जो महात्मा-जन सभी।
पाकर मुझे, दुख-धाम नश्वर[1]-जन्म नहिं पाते कभी॥

१६

विधिलोक[2] तक जाकर पुनः जन जन्म पाते हैं यहीं।
पर पा गए अर्जुन मुझे वे जन्म फिर पाते नहीं॥

१७

दिन-रात ब्रह्मा की, सहस्रों युग बड़ी जो जानते।
वे ही पुरुष दिन-रैन की गति ठीक हैं पहिचानते॥

१८

जब हो दिवस अव्यक्त से सब व्यक्त होते हैं तभी।
फिर रात्रि होते ही उसी अव्यक्त में लय हों सभी॥

१९

होता विवश[3] सब भूत-गण उत्पन्न बारम्बार है।
लय रात्रि में होता दिवस में जन्म लेता धार है॥

१ क्षण-भंगुर (नाश होनेवाला)। २ ब्रह्मलोक। ३ प्रकृति के वश में हुआ।

२०

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥

२१

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥

२२

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥

२३

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः ।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥

२४

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥

नाम जपो निर्भय रहो, अंग न व्यापै पीर ।
जरा मरन संसय मिटै, गावै दास कबीर ॥—कबीर

२०

इससे[1] परे फिर और ही अव्यक्त नित्य-पदार्थ है।
सब जीव विनशे[2] भी नहीं वह नष्ट होता पार्थ है॥

२१

कहते परमगति हैं जिसे अव्यक्त अक्षर नाम है।
पाकर जिसे लौटें न फिर मेरा वही परधाम है॥

२२

सब जीव जिसमें हैं सकल संसार जिससे व्याप्त[3] है।
वह पर-पुरुष होता अनन्य सुभक्ति से ही प्राप्त है॥

२३

वह काल सुन, तन त्याग जिसमें लौटते योगी नहीं।
वह भी कहूँगा काल जब मर लौट कर आते यहीं॥

२४

दिन, अग्नि, ज्वाला, शुक्लपख, षट् उत्तरायण मास में।
तन त्याग जाते ब्रह्मवादी[4], ब्रह्म, ही के पास में॥

---

१ इस अव्यक्त से भी परे। २ नष्ट होने पर। ३ जिससे सब जगत् परिपूर्ण है (अध्याय ६ श्लोक ४)। ४ परमेश्वर की उपासना से परमेश्वर को जाननेवाले।

२५

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥

२६

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ॥

२७

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥

२८

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अक्षरब्रह्मयोगो नाम
अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

He who contemplates the Supreme Truth, contemplates the perfect Essence.

—BUDDHIST MEDITATION FROM THE JAPANESE.

२५

निशि[1], धूम्र[2] में मर कृष्णपख, षट् दक्षिणायन मास में ।
नर चन्द्रलोक विशाल में बस फिर फँसे[3] भव-त्रास में ॥

२६

ये शुक्ल, कृष्ण सदैव दो गति विश्व की ज्ञानी कहें ।
दे मुक्ति पहली, दूसरी से लौट फिर जग में रहें ॥

२७

ये मार्ग दोनों जान, योगी मोह में पड़ता नहीं ।
इस हेतु अर्जुन ! योग-युत सब काल में हो सब कहीं ॥

२८

जो कुछ कहा है पुण्य-फल, मख[4] वेद से तप दान से ।
सब छोड़ आदिस्थान[5] ले, योगी पुरुष *इस ज्ञान से ॥

आठवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ८ ॥

---

१ रात । २ धूँआ । ३ फिर संसार में आता है । ४ यज्ञ ।
५ सनातन परमपद । *ऊपर कहे हुए तत्त्व को जानकर ।

नवमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच—

१

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥

२

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥

३

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप ।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥

४

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥

All are parts of one stupendous whole
Whose body Nature is, and God the soul

—POPE

नवाँ अध्याय

श्रीभगवान् ने कहा—

१

अब दोषदर्शी तू नहीं यों, गुप्त, सह[1]-विज्ञान के।
वह ज्ञान कहता हूँ, अशुभ से मुक्त हो जो जान के॥

२

यह राजविद्या[2], परम-गुप्त, पवित्र, उत्तम-ज्ञान है।
प्रत्यक्ष फलप्रद, धर्मयुत, अव्यय, सरल, सुख-खान है॥

३

श्रद्धा न जिनको पार्थ है इस धर्म के शुभ सार में।
मुझको न पाकर *लौट आते मृत्युमय संसार में॥

४

अव्यक्त अपने रूप से जग व्याप्त मैं करता सभी।
मुझमें सभी प्राणी समझ पर मैं नहीं उनमें कभी॥

---

१ विज्ञान के सहित। २ सब विद्याओं में श्रेष्ठ। *मृत्युमय संसार के मार्ग में भटकते हैं।

५

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥

६

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥

७

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥

८

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥

९

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥

जैसे जल से हिम बनत है, हिम बहुरी जल होई ।
तैसे या तत वाही तत से, फिर यह अो वह सोई ॥

—कबीर

५

मुझमें नहीं हैं भूत देखो योग-शक्ति-प्रभाव है।
उत्पन्न करता पालता उनसे न किन्तु लगाव है॥

६

सब ओर रहती वायु है आकाश में जिस भांति से।
मुझमें सदा ही हैं समझ सब भूतगण इस भांति से॥

७

कल्पान्त में मेरी प्रकृति में जीव लय होते सभी।
जब कल्प का आरम्भ हो, मैं फिर उन्हें रचता तभी॥

८

अपनी प्रकृति आधीन कर, इस भूतगण[1] को मैं सदा।
उत्पन्न बारम्बार करता, जो प्रकृतिवश सर्वदा॥

९

बंधता नहीं हूँ पार्थ! मैं इस कर्म-बन्धन में कभी।
रहकर उदासी[2]-सा सदा आसक्ति तज करता सभी॥

---

१ प्राणियों का समुदाय जो प्रकृति के वश अवश हो रहा है।
२ सारे कार्य कर्तृत्व भाव के बिना अपने-आप होने देने के समान।

१०

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥

११

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥

१२

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥

१३

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥

१४

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥

सो माया वश भयउ गुंसाई । बंध्यो कीर मरकट की नाईं ॥
तबते जीव भयऊ संसारी । ग्रन्थि न छूटि न होइ सुखारी ॥
—तुलसीदास

१०

अधिकार से मेरे प्रकृति रचती चराचर विश्व है।
इस हेतु फिरकी की तरह फिरता बराबर विश्व है॥

११

मैं प्राणियों का ईश हूँ, इस भाव को नहिं जान के।
करते अवज्ञा[2] जड़, मुझे नर-देहधारी मान के॥

१२

†चित भ्रष्ट, आशा ज्ञान कर्म निरर्थ सारे ही किये।
*वे आसुरी अति राक्षसीय स्वभाव मोहात्मक लिये॥

१३

‡दैवी प्रकृति के आसरे बुध-जन भजन मेरा करें।
भूतादि अव्यय जान पार्थ! अनन्य मन से मन धरें॥

१४

नित यत्न से कीर्तन करें दृढ़ व्रत सदा धरते हुए।
करते भजन हैं भक्ति से मम वन्दना करते हुए॥

---

१ देखो अध्याय ७ का श्लोक २८। २ अवहेलना। †वृथा आशा, वृथा कर्म और वृथा ज्ञान। *आसुरी सम्पदा अध्याय १६ में श्लोक ४ से २१ तक। ‡दैवी प्रकृति अध्याय १६ श्लोक १ से ३ तक है।

१५

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥

१६

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥

१७

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च ॥

१८

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥

१९

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥

How absolute its immateriality ! It alone exists and does not change; It penetrates all and It does not perish It may be regarded as the Mother of the universe.

—LAOTSE (CHINA)

१५

कुछ भेद[1] और अभेद[2] से कुछ ज्ञान-यज्ञ विधान से।
पूजन करें मेरा कहीं कुछ सर्वतोमुख[3] ध्यान से॥

१६

मैं यज्ञ श्रौतस्मार्त[4] हूँ एवं स्वधा[5] आधार हूँ।
घृत और औषधि, अग्नि, आहुति, मन्त्र का मैं सार हूँ॥

१७

जग का पिता माता पितामह विश्व-पोषण-हार हूँ।
ऋक् साम यजु श्रुति जानने के योग्य शुचि ओंकार हूँ॥

१८

*पोषक प्रलय उत्पत्ति गति आधार मित्र निधान हूँ।
साक्षी शरण प्रभु बीज अव्यय मैं निवासस्थान हूँ॥

१९

मैं ताप देता, रोकता जल, वृष्टि मैं करता कभी।
मैं ही अमृत भी मृत्यु भी मैं सत् असत् अर्जुन! सभी॥

---

१ द्वैत भाव। २ अद्वैत भाव। ३ विराट् स्वरूप। ४ श्रौत और स्मार्त यज्ञ मैं हूँ। ५ पितरों के निमित्त दिया जानेवाला अन्न।

*छन्द के अनुरोध से विशेषण आगे पीछे करने पड़े हैं।

२०

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक–
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥

२१

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते ॥

२२

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

२३

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥

Be not anxious for your life, what ye shall eat··· drink···put on. S. MATTHEW 6. 25

It shall be done. And all things, whatsoever ye shall ask in prayer, believing, ye shall receive.—S. MATTHEW 21.22

२०

जो सोमपा[1] त्रैविद्य[2]-जन निष्पाप अपने को किये।
कर यज्ञ मुझको पूजते हैं स्वर्ग-इच्छा को लिये॥
वे प्राप्त करके पुण्य लोक सुरेन्द्र का, सुर-वर्ग में।
फिर दिव्य देवों के अनेकों भोग भोगें स्वर्ग में॥

२१

वे भोग कर सुख-भोग को, उस स्वर्गलोग विशाल में।
फिर पुण्य बीते आ फँसे इस लोक के दुख-जाल में॥
*यों तीन वेदों में कहे जो कर्म-फल में लीन हैं।
वे कामना-प्रियजन सदा आवागमन-आधीन हैं॥

२२

जो जन मुझे भजते सदैव अनन्य-भावापन्न हो।
उनका स्वयं मैं ही चलाता योग-क्षेम[3] प्रसन्न हो॥

२३

जो अन्य देवों को भजें नर नित्य श्रद्धा-लीन हो।
वे भी मुझे ही पूजते हैं पार्थ! पर विधि-हीन हो॥

---

१ सोम पीनेवाले। २ ऋग्, यजुः, साम इन तीनों वेदों के अनुसार सकाम कर्म करनेवाले। *देखिये अध्याय २ श्लोक ४२ से ४५ तक। ३ जो प्राप्त नहीं है वह जुटाना और जो प्राप्त है उसकी रक्षा करना।

२४

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥

२५

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन्यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥

२६

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥

२७

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥

२८

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥

Ye do err not knowing the scriptures nor the power of God. S. MATTHEW 22—29

२४

सब यज्ञ-भोक्ता विश्व-स्वामी पार्थ मैं ही हूँ सभी।
पर वे न मुझको जानते हैं तत्त्व से गिरते तभी॥

२५

सुरभक्त सुर को पितृ को पाते पितर-अनुरक्त[1] हैं।
जो भूत पूजें भूत को, पाते मुझे मम भक्त हैं॥

२६

अर्पण करे जो फूल फल जल पत्र मुझको भक्ति से।
लेता प्रयत[2]-चित भक्त की वह भेंट मैं अनुरक्ति[3] से॥

२७

कौन्तेय! जो कुछ भी करो तप यज्ञ आहुति दान भी।
नित खानपानादिक समर्पण तुम करो मेरे सभी॥

२८

हे पार्थ! यों शुभ-अशुभ-फल-प्रद कर्म-बन्धन-मुक्त हो।
मुझमें मिलेगा मुक्त हो, संन्यास-योग-नियुक्त हो॥

---

१ पितरों को पूजनेवाले। २ शुद्धबुद्धि, निष्काम प्रेमी भक्त। ३ प्रेम से।

२६

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥

३०

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥

३१

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥

३२

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥

३३

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥

सम दरसी मोहिं कह सब कोऊ । सेवक प्रिय अनन्य गति सोऊ ॥
भक्तिवन्त अति नीचौ प्राणी । मोहि परम प्रिय अस मम वाणी ॥
—तुलसीदास

२६

द्वेषी हितैषी है न कोई, विश्व मुझमें एकसा।
पर भक्त मुझमें बस रहा मैं भक्त के मन में बसा॥

३०

यदि दुष्ट भी भजता अनन्य सुभक्ति को मन में लिये।
है ठीक निश्चयवान् उसको साधु कहना चाहिये॥

३१

वह धर्म-युत हो शीघ्र शाश्वत शान्ति पाता है यहीं।
यह सत्य समझो भक्त मेरा नष्ट होता है नहीं॥

३२

पाते परम-पद पार्थ! पाकर आसरा मेरा सभी।
जो अड़ रहे हैं पाप-गति में वैश्य वनिता[1] शूद्र भी॥

३३

फिर राज-ऋषि पुण्यात्म ब्राह्मण भक्त की क्या बात है।
*मेरा भजन कर, तू दुखद नश्वर जगत् में तात है॥

---

१ स्त्री। *क्योंकि तू इस दुःख के घर नाशवान् जगत् में है, इसलिये मेरा भजन कर।

३४

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः ॥९॥

रामहिं सुमरिअ गाइअ रामहिं।
संतत सुनिअ राम-गुण ग्रामहिं॥

—तुलसीदास

३४

मुझमें लगा मन, भक्त बन, कर यजन[1] पूजन वन्दना।
मुझमें मिलेगा मत्परायण[2] युक्त आत्मा को बना॥

नवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ९ ॥





१. पूजन। २ मुझमें परायण होकर।

दशमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच—

१

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया॥

२

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥

३

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते॥

४

बुद्धिर्ज्ञानसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च॥

जग पेखन तुम देखन हारे। विधि हरि सम्भु नचावनहारे॥
तेउ न जानहिं मर्म तुम्हारा। और तुमहिं को जाननहारा॥
—तुलसीदास

दसवाँ अध्याय

श्रीभगवान् ने कहा—

१

मेरे परम शुभ सुन महाबाहो ! वचन अब और भी ।
तू प्रिय मुझे, तुझसे कहूँगा बात हित की मैं सभी ॥

२

उत्पत्ति[1] देव महर्षिगण मेरी न कोई जानते ।
सब भांति इनका आदि हूँ मैं, यों न ये पहिचानते ॥

३

जो जानता मुझको महेश्वर अज अनादि सदैव ही ।
ज्ञानी मनुष्यों में सदा सब पाप से छुटता वही ॥

४

नित निश्चयात्मक बुद्धि ज्ञान अमूढ़ता सुख दुःख दम ।
उत्पत्ति लय एवं क्षमा, भय अभय सत्य सदैव शम ॥

---

१ विभूति सहित लीला से प्रकट होना ।

५

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥

६

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥

७

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥

८

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥

९

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥

Say God is one God; the eternal God; He begetteth not, neither is He begotten : and there is not any one like unto Him. —Quran.

५

समता अहिंसा तुष्टि[1] तप एवं अयश यश दान भी।
उत्पन्न मुझसे प्राणियों के भाव होते हैं सभी॥

६

हे पार्थ सप्त महर्षिजन एवं प्रथम मनु चार भी।
मम भाव-मानस[2] से हुए, उत्पन्न उनसे जन सभी॥

७

जो जानता मेरी विभूति, व योग-शक्ति यथार्थ है।
संशय नहीं दृढ़-योग वह नर प्राप्त करता पार्थ! है॥

८

मैं जन्मदाता हूँ सभी मुझसे प्रवर्तित तात हैं।
यह जान ज्ञानी भक्त भजते भाव से दिन-रात हैं॥

९

मुझमें लगा कर प्राण मन, करते हुए मेरी कथा।
करते परस्पर बोध, रमते तुष्ट रहते सर्वथा॥

---

१ सन्तोष। २ मेरे संकल्प से हुए हैं।

१०

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥

११

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥

अर्जुन उवाच—

१२

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥

१३

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥

१४

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥

राम स्वरूप तुम्हार, अगम अगोचर बुद्धि पर ।
अविगत अकथ अपार, नेति नेति नित निगम कह ॥
—तुलसीदास

१०

इस भांति होकर युक्त जो नर नित्य भजते प्रीति से।
मति-योग ऐसा दूँ, मुझे वे पा सकें जिस रीति से॥

११

उनके हृदय में बैठ पार्थ! कृपार्थ[1] अपने ज्ञान का।
दीपक जलाकर नाश करता तम सभी अज्ञान का॥

अर्जुन ने कहा—

१२

तुम परम-ब्रह्म पवित्र एवं परमधाम अनूप हो।
हो आदिदेव अजन्म अविनाशी अनन्त स्वरूप हो॥

१३

नारद महा मुनि असित देवल व्यास ऋषि कहते यही।
मुझसे स्वयं भी आप हे जगदीश! कहते हो वही॥

१४

केशव! कथन सारे तुम्हारे सत्य ही मैं मानता।
हे हरि! तुम्हारी व्यक्ति[2] सुर दानव न कोई जानता॥

---

१ कृपा करने के लिये। २ लीलामय स्वरूप, अध्याय ४ श्लोक ६।

१५

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥

१६

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥

१७

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन् ।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥

१८

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥

श्रीभगवानुवाच— १९

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥

सब घट माहै रमि रह्या, बिरला बूझै कोय ।
सोई बूझै राम को, जो राम सनेही होय ॥

—कबीर

१५

हे भूतभावन[1] भूतईश्वर[2] देवदेव जगत्पते।
तुम आप पुरुषोत्तम स्वयं ही आपको पहिचानते॥

१६

जिन-जिन महान् विभूतियों से व्याप्त हो संसार में।
वे दिव्य आत्म-विभूतियां बतलाइये विस्तार में॥

१७

चिन्तन सदा करता हुआ कैसे तुम्हें पहिचान लूं।
किन-किन पदार्थों में करूँ चिन्तन तुम्हारा जान लूं॥

१८

भगवन्! कहो निज योग[3] और विभूतियां विस्तार से।
भरता नहीं मन आपकी वाणी सुधामय धार से॥

श्रीभगवान् ने कहा—

१९

कौन्तेय! दिव्य विभूतियां मेरी अनन्त अशेष हैं।
अब मैं बताऊँगा तुझे जो जो विभूति विशेष हैं॥

---

१ सब प्राणियों को उत्पन्न करनेवाले। २ सब के ईश्वर।
३ योग-शक्ति।

२०

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥

२१

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥

२२

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥

२३

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥

२४

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥

It is truly the supreme Light, inaccessible and unknowable, from which all other lamps receive their flame and their splendour.

—The Zohar.

२०

मैं सर्वजीवों के हृदय में अन्तरात्मा पार्थ! हूँ।
सब प्राणियों का आदि एवं मध्य अन्त यथार्थ हूँ॥

२१

आदित्यगण में विष्णु हूँ, सब ज्योति बीच दिनेश[1] हूँ।
नक्षत्र में राकेश[2], मरुतों में मरीचि विशेष हूँ॥

२२

मैं साम[3] वेदों में तथा सुरवृन्द बीच सुरेन्द्र हूँ।
मैं शक्ति चेतन जीव में, मन इन्द्रियों का केन्द्र हूँ॥

२३

शिव सकल रुद्रों बीच, राक्षस यक्ष बीच कुबेर हूँ।
मैं अग्नि वसुओं में, पहाड़ों में पहाड़ सुमेर हूँ॥

२४

मुझको बृहस्पति पार्थ! मुख्य पुरोहितों में जान तू।
सेनानियों[4] में स्कन्द, सागर सब सरों में मान तू॥

१ सूर्य, २ चन्द्रमा ३ सामवेद, ४ सेनापतियों में।

२५

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥

२६

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥

२७

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥

२८

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥

२९

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥

The Being that is one, sages speak of in many terms.

—ऋग्वेद

२५

भृगु श्रेष्ठ ऋषियों में, वचन में मैं सदा ॐकार हूँ।
सब स्थावरों में गिरि हिमालय, यज्ञ में जप-सार हूँ॥

२६

मुनि कपिल सिद्धों बीच, नारद देव-ऋषियों में कहा।
गन्धर्वगण में चित्ररथ, तरु-वर्ग में पीपल महा॥

२७

उच्चैःश्रवा सारे हयों[1] में, अमृत[2]-जन्य अनूप हूँ।
मैं हाथियों में श्रेष्ठ ऐरावत, नरों में भूप हूँ॥

२८

सुरधेनु गौओं में, भुजंगों बीच वासुकि सर्प हूँ।
मैं वज्र शस्त्रों में, प्रजा उत्पत्ति[3]-कर कन्दर्प[4] हूँ॥

२९

मैं पितर गण में अर्यमा हूँ, नाग[5]-गण में शेष हूँ।
यम शासकों में, जलचरों में वरुण रूप विशेष हूँ॥

१ घोड़ों। २ अमृत-मंथन से उत्पन्न। ३ उत्पत्ति का हेतु।
४ कामदेव। ५ नाग और सर्प दोनों सर्पों की अलग-अलग जातियां हैं।

३०

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ।।

३१

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ।।

३२

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ।।

३३

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च ।
अहमेवाक्षयः कालो धाताऽहं विश्वतोमुखः ।।

३४

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ।।

But call Him by what name you will; for to those who know, He is the possessor of all names.

—Baha Ullah



शस्त्रधारी वर्ग में मैं राम हूँ

३०

प्रह्लाद दैत्यों बीच, संख्या-सूचकों में काल हूँ।
मैं पक्षियों में गरुड़, पशुओं में मृगेन्द्र[1] विशाल हूँ॥

३१

गंगा नदों[2] में, शस्त्र-धारी-वर्ग में मैं राम हूँ।
मैं पवन वेगों बीच, मीनों में मकर अभिराम हूँ॥

३२

मैं आदि हूँ मध्यान्त हूँ हे पार्थ! सारे सर्ग[3] का।
विद्यागणों में ब्रह्मविद्या, वाद वादी-वर्ग का॥

३३

सारे समासों बीच द्वन्द्व, अकार वर्णों में कहा।
मैं काल अक्षय और अर्जुन! विश्वमुख[4] धाता[5] महा॥

३४

मैं सर्वहर्ता[6] मृत्यु, सबका मूल जो होंगे अभी।
तिय वर्ग में मेधा क्षमा धृति कीर्ति सुधि श्री वाक् भी॥

---

१ सिंह। २ बहनेवालों में। ३ सृष्टि। ४ विराट् स्वरूप।
५ सबका धारण-पोषण करनेवाला। ६ सबका नाश करनेवाला।

३५

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम् ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥

३६

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥

३७

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनंजयः ।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥

३८

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥

३९

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥

For of all things, He is the Lord and Father and Source and the life and power and light and intelligence and mind.

—HERMES

३५

हूँ साम में मैं बृहत्साम, वसन्त ऋतुओं में कहा।
मंगसिर महीनों बीच, गायत्री सुछन्दों में महा॥

३६

तेजस्वियों का तेज हूँ मैं और छलियों में जुआ।
जय[1] और निश्चय, सत्त्व[2] सारे सत्त्वशीलों[3] का हुआ॥

३७

मैं वृष्णियों में वासुदेव व पाण्डवों में पार्थ हूँ।
मैं मुनिजनों में व्यास, कवियों बीच शुक्र यथार्थ हूँ॥

३८

मैं शासकों का दण्ड, विजयी की सुनीति प्रधान हूँ।
हूँ मौन गुह्यों[4] में सदा, मैं ज्ञानियों का ज्ञान हूँ॥

३६

इस भांति प्राणीमात्र का जो बीज है मैं हूँ सभी।
मेरे बिना अर्जुन! चराचर है नहीं कोई कभी॥

---

१ जीतनेवालों का जय और निश्चय करनेवालों का निश्चय। २ सात्त्विक भाव। ३ सात्त्विक पुरुषों। ४ गुप्त भावों में।

४०

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप ।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥

४१

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥

४२

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विभूतियोगो नाम
दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

He is the soul of all conscious creatures who constitutes all things in this world, those which are beyond our senses and those which fall within their range.
—Aswaghosha

४०

हे पार्थ ! दिव्य विभूतियाँ मेरी अनन्त अपार हैं।
कुछ कह दिये दिग्दर्शनार्थ[1] विभूति के विस्तार हैं॥

४१

जो-जो जगत में वस्तु, शक्ति विभूति श्रीसम्पन्न[2] हैं।
वे जान मेरे तेज के ही अंश से उत्पन्न हैं॥

४२

विस्तार से क्या काम तुमको जानलो यह सार है।
इस एक मेरे अंश से व्यापा हुआ संसार है॥

दसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १० ॥

१ उदाहरण के लिये संक्षेप में। २ धन-सम्पत्ति से परिपूर्ण।

एकादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच—

१

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥

२

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥

३

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥

४

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥

जो नहिं देखा नहिं सुना, जो मनहूँ न समाय ।
सो सब अद्भुत देखेउँ, बरणि कवन विधि जाय ॥

—तुलसीदास

ग्यारहवाँ अध्याय

अर्जुन ने कहा—

१

उपदेश यह अति गुप्त जो तुमने कहा करके दया।
अध्यात्म विषयक ज्ञान से सब मोह मेरा मिट गया॥

२

विस्तार से सब सुन लिया उत्पत्ति-लय का तत्त्व है।
मैंने सुना सब आपका अक्षय अनन्त महत्त्व है॥

३

हैं आप वैसे आपने जैसा कहा है हे प्रभो।
मैं चाहता हूँ देखना ऐश्वर्यमय[1] उस रूप को॥

४

समझें प्रभो यदि आप, मैं वह देख सकता हूँ सभी।
तो वह मुझे योगेश! अव्यय रूप दिखलादो अभी॥

---

१ ज्ञान, शक्ति, बल, वीर्य और तेज युक्त।

श्रीभगवानुवाच—

५

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ।।

६

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ।।

७

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ।।

८

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ।।

संजय उवाच—

९

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः ।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ।।

......he was transfigured before them and his face did shine as the sun and his garments became white as the light.

—S. Mathew 17. 2

श्रीभगवान् ने कहा— ५

हे पार्थ ! देखो दिव्य अनुपम विविध वर्णाकार[1] के।
शत-शत सहस्रों रूप मेरे भिन्न-भिन्न प्रकार के॥

६

सब देख भारत ! रुद्र वसु अश्विनि मरुत आदित्य भी।
आश्चर्य देख अनेक अब पहले न देखे जो कभी॥

७

इस देह में एकत्र सारा जग चराचर देखले।
जो और चाहे देखना इसमें बराबर देखले॥

८

मुझको न अपनी आँख से तुम देख पाओगे कभी।
मैं दिव्य देता दृष्टि, देखो योग का वैभव सभी॥

संजय ने कहा— ९

जब पार्थ से श्रीकृष्ण ने इस भांति हे राजन् ! कहा।
तब ही दिया ऐश्वर्य-युक्त स्वरूप का दर्शन महा॥

१ भांति-भांति के वर्ण और आकृतिवाले।

१०

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥

११

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥

१२

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥

१३

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥

१४

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥

लोचन अभिरामा तनु घनस्यामा निज आयुध भुज चारी ।
भूषण वनमाला नयन बिसाला सोभा सिंधु खरारी ॥
—तुलसीदास

१०

मुख नयन थे उसमें अनेकों ही अनोखा रूप था।
पहिने अनेकों दिव्य गहने शस्त्र-साज अनूप था॥

११

सीमा-रहित अद्भुत महा वह विश्वतोमुख रूप था।
धारण किये अति दिव्य माला वस्त्र गन्ध अनूप था॥

१२

नभ में सहस रवि मिल उदय हों प्रभापुञ्ज[१] महान हो।
तब उस महात्मा कान्ति के कुछ कुछ प्रकाश समान हो॥

१३

उस देवदेव शरीर में देखा धनंजय ने तभी।
बांटा विविध विध से जगत् एकत्र उसमें है सभी॥

१४

रोमांच तन में हो उठा आश्चर्य से मानो जगे।
तब यों धनंजय सिर झुका, कर[२] जोड़ कर कहने लगे॥

---

१ प्रकाश का समूह। २ हाथ।

अर्जुन उवाच—

१५

पश्यामि देवांस्तव देव देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥

१६

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥

१७

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ता-
द्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥

कोटिन चतुरानन गौरीसा । अगणित उडुगन रवि रजनीसा ॥
सुर मुनि सिद्ध नाग नर किन्नर । चार प्रकार जीव सचराचर ॥
—तुलसीदास

अर्जुन ने कहा— १५

भगवन् ! तुम्हारी देह में मैं देखता सुर-गण सभी।
मैं देखता हूँ देव ! इसमें प्राणियों का संघ[1] भी॥
शुभ कमल आसन पर इसी में ब्रह्मदेव विराजते।
इसमें महेश्वर और ऋषिगण, दिव्य पन्नग[2] साजते॥

१६

बहु बाहु इसमें हैं अनेकों ही उदरमय[3] रूप है।
मुख और आँखें हैं अनेकों हरि-स्वरूप अनूप है॥
दिखता न विश्वेश्वर तुम्हारा आदि मध्य न अन्त है।
मैं देखता सब ओर छाया विश्वरूप अनन्त है॥

१७

पहिने मुकुट मञ्जुल, गदा, शुभ चक्र धरते आप हैं।
हो तेज-निधि सारी दिशा दैदीप्त करते आप हैं॥
तुम दुर्निरीक्ष्य[4] महान् अपरम्पार हे भगवान हो।
सब ओर दिखते दीप्त[5] अग्नि दिनेश सम द्युतिवान[6] हो॥

---

१ समुदाय। २ सर्प। ३ पेट। ४ देखने में गहन। ५ प्रज्वलित।
६ ज्योतियुक्त।

१८

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥

१९

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य-
मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥

२०

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥

उदर मांझ सुन अण्डज राया । देखेउ बहु ब्रह्माण्ड निकाया ॥
अगनित लोकपाल जम काला । अगनित भूधर भूमि बिसाला ॥
—तुलसीदास

१८

तुम जानने के योग्य अक्षरब्रह्म अपरम्पार हो।
जगदीश! सारे विश्व मंडल के तुम्हीं आधार हो॥
अव्यय सनातन धर्म के रक्षक सदैव महान् हो।
मेरी समझ से तुम सनातन पुरुष हे भगवान् हो॥

१९

नहिं आदि मध्य न अन्त और अनन्त बल-भंडार है।
शशि-सूर्य रूपी नेत्र और अपार भुज-विस्तार है॥
प्रज्वलित[1] अग्नि प्रचण्ड मुख में देखता मैं धर रहे।
संसार सारा तप्त[2] अपने तेज से हरि कर रहे॥

२०

नभ-भूमि अन्तर सब दिशा इस रूप से तुम व्यापते।
यह उग्र अद्भुत रूप लखि त्रैलोक्य थर-थर कांपते॥

१ दहकती हुई। २ तपायमान।

२१

अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति
केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति ।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥

२२

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥

२३

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं
महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ॥

विश्वरूप रघुवंश मणि, करहु वचन विश्वास ।
लोक कल्पना वेद कह, अंग अंग प्रति जास ॥

—तुलसीदास



२१

ये आप ही में देव-वृन्द प्रवेश करते जा रहे।
डरते हुए कर जोड़ जय-जय देव शब्द सुना रहे॥
सब सिद्ध-संघ महर्षिगण भी स्वस्ति[1] कहते आ रहे।
पढ़ कर विविध विध स्तोत्र स्वामिन् आपके गुण गा रहे॥

२२

सब रुद्रगण आदित्य वसु हैं साध्यगण सारे खड़े।
सब पितर विश्वेदेव अश्विनि और सिद्ध बड़े-बड़े॥
गन्धर्वगण राक्षस मरुत समुदाय एवं यक्ष भी।
मन में चकित होकर हरे! हैं देखते तुमको सभी॥

२३

*बहु नेत्र मुखवाला महाबाहो! स्वरूप अपार है।
आंखों तथा पैरों व जंघा का बड़ा विस्तार है॥
बहु उदर इसमें और बहु विकराल डाढ़ें हैं महा।
भयभीत इसको देख सब हैं भय मुझे भी हो रहा॥

---

१ कल्याण हो। *अनेक मुखों और नेत्रोंवाला।

२४

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥

२५

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥

२६

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसंघैः ।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥

पद पाताल सीस अजधामा । अपर लोक अंग अंग विश्रामा ॥
भृकुटि विलास भयंकर काला । नयन दिवाकर कच घन माला ॥
—तुलसीदास

२४

यह गगनचुंबी[1] जगमगाता हरि ! अनेकों रंग का।
आंखें बड़ी बलती, खुला मुख भी अनोखे ढंग का॥
यह देख ऐसा रूप मैं मन में हरे ! घबरा रहा।
नहिं धैर्य्य धर पाता, न भगवन् ! शान्ति भी मैं पा रहा॥

२५

डाढ़ें भयंकर देख पड़ता मुख महाविकराल है।
मानो धधकती यह प्रलय-पावक[2] प्रचण्ड विशाल है॥
सुख है न ऐसे *देख मुख भूला दिशायें भी सभी।
देवेश ! जग-आधार ! हे भगवन् ! करो करुणा अभी॥

२६

धृतराष्ट्र-सुत सब साथ उनके ये नृपति-समुदाय भी।
श्री भीष्म द्रोणाचार्य कर्ण प्रधान अपने भट सभी॥

---

१ आकाश से भिड़ा हुआ। २ प्रलयकाल की आग।
*प्रलयकाल की अग्नि के समान मुखों को देखकर।

२७

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु
संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥

२८

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥

२९

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥

३०

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता-
ल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥

अधर लोभ जम दसन कराला । माया हास बाहु दिगपाला ॥
आनन अनल अम्बुपति जीहा । उतपति पालन प्रलय समीहा ॥
—तुलसीदास

२७

*विकराल डाढ़ों युत भयानक आपके मुख में हरे।
अतिवेग से सब दौड़ते जाते धड़ाधड़ हैं भरे॥
ये दिख रहे कुछ दांत में लटके हुए रण-शूर हैं।
इस डाढ़ में पिस कर अभी जिनके हुए शिर चूर हैं॥

२८

जिस भांति बहु सरिता-प्रवाह समुद्र प्रति जाते बहे।
ऐसे तुम्हारे ज्वाल-मुख में वेग से नर जा रहे॥

२९

जिस भांति जलती ज्वाल में जाते पतंगे वेग से।
यों मृत्यु हित ये नर, मुखों में आपके जाते धसे॥

३०

सब ओर से इस ज्वालमय मुख में नरों को धर रहे।
देवेश! रसना चाटते भक्षण सभी का कर रहे॥
विष्णो! प्रभाएँ आपकी अति उग्र जग में छा रहीं।
निज तेज से संसार सारा ही सुरेश! तपा रहीं॥

*डाढ़ोंवाले विकराल भयंकर मुखों में।

३१

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्॥

श्रीभगवानुवाच—

३२

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः॥

३३

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्॥

करउँ विचार बहोरि बहोरी। मोह कलिल व्यापित मति मोरी॥
उभय घरी महँ मैं सब देखा। भयउ भ्रमित मन मोह विसेषा॥
—तुलसीदास

३१

तुम उग्र अद्भुत रूपधारी कौन हो बतलाइये।
हे देवदेव! नमामि देव! प्रसन्न अब हो जाइये॥
तुम कौन आदि स्वरूप हो, यह जानना मैं चाहता।
कुछ भी न मुझको आपकी इस दिव्य करनी का पता॥

श्रीभगवान् ने कहा—

३२

मैं काल हूँ सब लोक-नाशक उग्र अपने को किये।
आया यहाँ संसार का संहार करने के लिये॥
तू हो न हो तो भी धनंजय! देख तेरे बिन लड़े।
ये नष्ट होंगे वीरवर योधा बड़े सब जो खड़े॥

३३

अतएव उठ रिपुदल-विजय कर, प्राप्त कर सम्मान को।
फिर भोग इस धन-धान्य से परिपूर्ण राज्य महान् को॥
हे पार्थ! मैंने वीर ये सब मार पहिले ही दिये।
आगे बढ़ो तुम युद्ध में बस नाम[1] करने के लिये॥

१ केवल निमित्तमात्र बन।

३४

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान् ।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥

संजय उवाच— ३५

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी ।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥

अर्जुन उवाच— ३६

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः ॥

सजल नयन पुलकित कर जोरी। कीन्हीं बहु विधि विनय बहोरी ॥

—तुलसीदास

३४

ये भीष्म द्रोण तथा जयद्रथ कर्ण योद्धा और भी।
जो वीरवर हैं मार पहिले ही दिये मैंने सभी॥
अब मार इन मारे हुओं को, वीरवर! व्याकुल न हो।
कर युद्ध रण में शत्रुओं को पार्थ! जीतेगा अहो॥

संजय ने कहा— ३५

तब मुकुटधारी पार्थ सुन केशव-कथन इस रीति से।
अपने उभय कर[1] जोड़ कर कँपते हुए भयभीत से॥
नमते हुए, गद्गद् गले से, और भी डरते हुए।
श्रीकृष्ण से बोले वचन यों वन्दना करते हुए॥

अर्जुन ने कहा— ३६

होता जगत् अनुरक्त हर्षित आपका कीर्तन किये।
सब भागते राक्षस दिशाओं में तुम्हारा भय लिये॥
नमता[2] तुम्हें सब सिद्ध-संघ सुरेश! बारम्बार है।
हे हृषीकेश! समस्त ये उनका उचित व्यवहार है॥

---

१ हाथ। २ नमस्कार करता है।

३७

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ।
अनन्त देवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥

३८

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥

३९

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥

जय राम रमा रमनं समनं भव ताप भयाकुल पाहि जनम् ।
अवधेस सुरेस रमेस बिभो सरनागत माँगत पाहि प्रभो ॥
—तुलसीदास

३७

तुम ब्रह्म के भी आदिकारण[1] और उनसे श्रेष्ठ हो।
फिर हे महात्मन्! आपकी यों वन्दना कैसे न हो॥
संसार के आधार हो, हे देवदेव! अनन्त हो।
तुम सत्, असत् इनसे परे अक्षर तुम्हीं भगवन्त हो॥

३८

भगवन्! पुरातन पुरुष हो तुम विश्व के आधार हो।
हो आदिदेव तथैव उत्तम धाम अपरम्पार हो॥
ज्ञाता[2] तुम्हीं हो जानने के योग्य भी भगवन्त हो।
संसार में व्यापे हुए हो देवदेव! अनन्त हो॥

३९

तुम वायु यम पावक वरुण एवं तुम्हीं राकेश[3] हो।
ब्रह्मा तथा उनके पिता भी आप ही अखिलेश हो॥
हे देवदेव! प्रणाम देव! प्रणाम सहसों बार हो।
फिर फिर प्रणाम! प्रणाम! नाथ, प्रणाम! बारम्बार हो॥

१ आदि कर्ता। २ जाननेवाले। ३ चन्द्रमा।

४०

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥

४१

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥

४२

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं
तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥

तव नाम जपामि नमामि हरी । भव रोग महामद मान अरी ॥
गुनसील कृपा परमायतनं । प्रणमामि निरन्तर श्रीरमनं ॥
—तुलसीदास

४०

सानन्द सन्मुख और पीछे से प्रणाम सुरेश ! हो ।
हरि बार-बार प्रणाम चारों ओर से सर्वेश ! हो ॥
है वीर्य्य शौर्य्य[1] अनन्त, बलधारी अतुल बलवन्त हो ।
व्यापे हुए सबमें इसी से 'सर्व' हे भगवन्त ! हो ॥

४१

तुमको समझ अपना सखा जाने बिना महिमा महा ।
यादव ! सखा ! हे कृष्ण ! प्यार प्रमाद या हठ से कहा ॥

४२

अच्युत ! हँसाने के लिये आहार और विहार में ।
सोते अकेले बैठते सबमें किसी व्यवहार में ॥
सबकी क्षमा मैं मांगता जो कुछ हुआ अपराध हो ।
संसार में तुम अतुल अपरम्पार और अगाध हो ॥

१ अनन्त सामर्थ्य और पराक्रम ।

४३

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥

४४

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥

४५

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देव रूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥

मुनि मानस पंकज भृङ्ग भजे । रघुबीर महा रनधीर अजे ॥
रघुनन्द निकन्दय द्वन्दघनं । महिपाल बिलोकय दीन जनं ॥
—तुलसीदास

४३

सारे चराचर के पिता हैं आप जग-आधार हैं।
हैं आप गुरुओं के गुरू अति पूज्य अपरम्पार हैं॥
त्रैलोक्य में तुमसा प्रभो! कोई कहीं भी है नहीं।
अनुपम अतुल्य प्रभाव बढ़कर कौन फिर होगा कहीं॥

४४

इस हेतु वन्दन-योग्य ईश! शरीर चरणों में किये।
मैं आपको करता प्रणाम प्रसन्न करने के लिये॥
*ज्यों तात सुत के, प्रिय प्रिया के, मित्र सहचर अर्थ हैं।
अपराध मेरा आप त्यों ही सहन हेतु समर्थ हैं॥

४५

यह रूप भगवन्! देखकर, पहले न जो देखा कभी।
हर्षित हुआ मैं किन्तु भय से है विकल भी मन अभी॥
देवेश! विश्वाधार! देव! प्रसन्न अब हो जाइये।
हे नाथ! पहला रूप ही अपना मुझे दिखलाइये॥

---

*जैसे पिता पुत्र के, प्रिय प्रिया के और मित्र मित्र के अपराध क्षमा करता है, ऐसे ही आप मेरे लिये हैं।

४६

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥

श्रीभगवानुवाच—

४७

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥

४८

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।
एवं रूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥

देखि चरित यह सो प्रभुताई ।
समुझत देह दसा बिसराई ॥

—तुलसीदास

४६

मैं चाहता हूँ देखना तुमको मुकुट धारण किये।
हे सहसबाहो[1]! शुभ करों[2] में, चक्र और गदा लिये॥
हे विश्वमूर्ते! फिर मुझे वह सौम्य दर्शन दीजिये।
वह ही चतुर्भुज रूप हे देवेश! अपना कीजिये॥

श्रीभगवान् ने कहा— ४७

हे पार्थ! परम प्रसन्न हो तुझ पर अनुग्रह-भाव से।
मैंने दिखाया विश्वरूप महान योग-प्रभाव से॥
यह परम तेजोमय विराट् अनन्त आदि अनूप है।
तेरे सिवा देखा किसी ने भी नहीं यह रूप है॥

४८

हे कुरुप्रवीर! न वेद से, स्वाध्याय[3], यज्ञ न दान से।
दिखता नहीं मैं उग्र तप या क्रिया कर्म-विधान से॥
मेरा विराट् स्वरूप इस नरलोक में अर्जुन! कहीं।
अतिरिक्त तेरे और कोई देख सकता है नहीं॥

१ हजार भुजाओंवाले। २ हाथों में। ३ अध्ययन।

४९

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम् ।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥

संजय उवाच— ५०

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।
आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥

अर्जुन उवाच— ५१

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥

श्रीभगवानुवाच— ५२

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम ।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ॥

५३

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥

उमा जोग जप दान तप, नाना व्रत मख नेम ।
राम कृपा नहिं करहिं तस, जस निष्केवल प्रेम ॥

—तुलसीदास

४६

यह घोर-रूप[1] निहार कर मत मूढ़ और अधीर हो।
फिर रूप पहला देख, भय तज तुष्ट मन में वीर हो॥

संजय ने कहा—

५०

यों कह, दिखाया रूप अपना सौम्य[2] तन फिर धर लिया।
भगवान् ने भयभीत व्याकुल पार्थ को धीरज दिया॥

अर्जुन ने कहा—

५१

यह सौम्य नर-तन देख भगवन्! मन ठिकाने आ गया।
जिस भांति पहले था वही अपनी अवस्था पा गया॥

श्रीभगवान् ने कहा—

५२

हे पार्थ! दुर्लभ रूप यह जिसके अभी दर्शन किये।
सुर भी तरसते हैं इसी की लालसा मन में लिये॥

५३

दिखता न मैं तप, दान अथवा यज्ञ, वेदों से कहीं।
देखा जिसे तूने उसे नर देख पाते हैं नहीं॥

---

१ विकराल रूप। २ अति शान्त।

५४

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥

५५

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विश्वरूपदर्शनयोगो नाम ऐकादशोऽध्यायः ॥११॥

सत्य कहौं खग तोहि, शुचि सेवक मम प्रान प्रिय ।
अस विचारि भजु मोहि, परिहरि आस भरोस सब ॥

—तुलसीदास

५४

हे पार्थ ! एक अनन्य मेरी भक्ति से सम्भव सभी ।
*यह ज्ञान, दर्शन और मुझमें तत्त्व जान प्रवेश भी ॥

५५

मेरे लिये जो कर्म-तत्पर, नित्य मत्पर, भक्त है ।
पाता मुझे वह जो सभी से वैर-हीन विरक्त[1] है ॥

ग्यारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ।

---

*तत्त्व से जानने का ज्ञान, मेरा प्रत्यक्ष दर्शन और मुझे प्राप्त करना अनन्य भक्ति से ही सम्भव है । १ संग-रहित ।

द्वादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच—

१

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥

श्रीभगवानुवाच—

२

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥

३

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥

४

संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥

तिन्हते पुनि मोहि प्रिय निज दासा । जेहि गति मोरि न दूसरि आसा ॥
पुनि पुनि सत्य कहों तोहि पांही । मोहि सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं ॥

—तुलसीदास

बारहवाँ अध्याय

अर्जुन ने कहा—

१

अव्यक्त को भजते कि जो धरते तुम्हारा ध्यान हैं।
इन योगियों में योगवेत्ता कौन श्रेष्ठ महान हैं॥

श्रीभगवान् ने कहा—

२

कहता उन्हें मैं श्रेष्ठ मुझमें चित्त जो धरते सदा।
जो युक्त हो श्रद्धा - सहित मेरा भजन करते सदा॥

३

अव्यक्त[1], अक्षर[2], अनिर्देश्य[3], अचिन्त्य[4] नित्य स्वरूप को।
भजते अचल, कूटस्थ[5], उत्तम सर्वव्यापी रूप को॥

४

सब इन्द्रियाँ साधे सदा समबुद्धि ही धरते हुए।
पाते मुझे वे पार्थ प्राणीमात्र हित करते हुए॥

---

१ निराकार। २ सच्चिदानन्द घन ब्रह्म। ३ अकथनीय।
४ मन बुद्धि से परे। ५ सदा एकरस रहनेवाले।

५

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥

६

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥

७

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥

८

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥

९

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥

पुरुष नपुंसक नारि नर, जीव चराचर कोइ ।
सर्व भाव भज कपट तजि, मोहि परम प्रिय सोइ ॥

—तुलसीदास

५

अव्यक्त में आसक्त जो होता उन्हें अति क्लेश है।
पाता पुरुष यह गति, सहन करके विपत्ति विशेष है॥

६

हो मत्परायण कर्म सब अर्पण मुझे करते हुए।
भजते सदैव अनन्य मन से ध्यान जो धरते हुए॥

७

मुझमें लगाते चित्त उनका शीघ्र कर उद्धार मैं।
इस मृत्युमय संसार से बेड़ा लगाता पार मैं॥

८

मुझमें लगाले मन, मुझी में बुद्धि को रख सब कहीं।
मुझमें मिलेगा फिर तभी इसमें कभी संशय नहीं॥

९

मुझमें धनंजय! जो न ठीक प्रकार मन पाओ बसा।
अभ्यास-योग-प्रयत्न[1] से मेरी लगालो लालसा[2]॥

१ अभ्यास रूप योग द्वारा। २ इच्छा।

१०

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥

११

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥

१२

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥

१३

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥

१४

संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥

विगत काम मम नाम परायण । शान्ति विरति विनती मुदितायन ॥
शम दम नियम नीति नहिं डोलहिं । परुष वचन कबहूँ नहिं बोलहिं ॥
—तुलसीदास

१०

अभ्यास भी होता नहीं तो कर्म कर मेरे लिये।
*सब सिद्धि होगी कर्म भी मेरे लिये अर्जुन! किये॥

११

यह भी न हो तब आसरा मेरा लिये कर योग ही।
कर चित्त-संयम कर्म-फल के त्याग सारे भोग ही॥

१२

अभ्यास-पथ से ज्ञान उत्तम, ज्ञान से गुरु ध्यान है।
गुरु-ध्यान से फल-त्याग, करता त्याग शान्ति प्रदान है॥

१३

बिन द्वेष, सारे प्राणियों का मित्र, करुणावान् हो।
सम दुःख सुख में मद न ममता, क्षमा शील महान् हो॥

१४

जो तुष्ट नित मन बुद्धि से मुझमें हुआ आसक्त है।
दृढ़ निश्चयी है संयमी प्यारा मुझे वह भक्त है॥

---

*मेरे लिये कर्म करता हुआ भी सिद्धि को प्राप्त होगा। १ श्रेष्ठ।

१५

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥

१६

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥

१७

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥

१८

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥

१९

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥

सम अभूत रिपु विषद् विरागी । लोभामर्ष हर्ष भय त्यागी ॥
बैर न विग्रह आस न त्रासा । सुखमय ताहि सदा सब आसा ॥
अनारम्भ अनिकेत अमानी । अनघ अरोष दक्ष विज्ञानी—तुलसीदास

१५

पाते न जिससे क्लेश जन, उनसे न पाता आप ही ।
भय क्रोध हर्ष विषाद बिन प्यारा मुझे है जन वही ॥

१६

जो शुचि[1] उदासी[2] दक्ष[3] है जिसको न दुःख बाधा रही ।
इच्छा-रहित आरम्भ-त्यागी भक्त प्रिय मुझको वही ॥

१७

करता न द्वेष न हर्ष जो बिन शोक है बिन कामना ।
त्यागे शुभाशुभ फल वही है भक्त प्रिय मुझको घना ॥

१८

सम शत्रु मित्रों से सदा अपमान मान समान है ।
शीतोष्ण[4] सुख दुख सम जिसे आसक्ति बिन मतिमान है ॥

१९

निन्दा प्रशंसा सम जिसे, मौनी सदा सन्तुष्ट ही ।
अनिकेत[5] निश्चल बुद्धिमय प्रिय भक्त है मुझको वही ॥

---

१ पवित्र । २ पक्षपात-रहित । ३ चतुर । ४ सर्दी-गर्मी दुःखादिक
५ जो विषयों में निवास नहीं करता ।

२०

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे भक्तियोगो नाम
द्वादशोऽध्यायः ॥१२॥

कोमल चित दीनन पर दाया। मन वच क्रम मम भक्त अमाया ॥
सबहिं मानप्रद आपु अमानी। भरत प्राण सम मम ते प्रानी ॥
—तुलसीदास

२०

जो मत्परायण इस अमृत-मय धर्म[1] में अनुरक्त हैं।
वे नित्य श्रद्धावान् जन मेरे परम प्रिय भक्त हैं॥

बारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

१ गीता का यह धर्म अमृत के समान है।

त्रयोदशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच— १

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥

२

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥

३

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत् ।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥

४

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥

निन्दा अस्तुति उभय सम, ममता मम पद कञ्ज ।
ते सज्जन मम प्राण प्रिय, गुण मन्दिर सुख पुञ्ज ॥

—तुलसीदास

तेरहवां अध्याय

श्रीभगवान् ने कहा—

१

कौन्तेय ! यह तन क्षेत्र[1] है ज्ञानी बताते हैं यही ।
जो जानता इस क्षेत्र को क्षेत्रज्ञ कहलाता वही ॥

२

हे पार्थ ! क्षेत्रों में मुझे क्षेत्रज्ञ जान महान तू ।
क्षेत्रज्ञ एवं क्षेत्र का सब ज्ञान मेरा जान तू ॥

३

वह क्षेत्र जो, जैसा, जहाँ से, जिन विकारों-युत, सभी ।
संक्षेप में सुन ! जिस प्रभाव समेत वह क्षेत्रज्ञ भी ॥

४

बहु भांति ऋषियों और छन्दों से अनेक प्रकार से ।
गाया पदों में ब्रह्मसूत्रों के सहेतु[2] विचार से ॥

---

१ शरीर-क्षेत्र है—जैसे खेत में बोया बीज फल देता है वैसे ही शरीर में बोया हुआ कर्म रूप बीज शुभाशुभ फल देता है ।

२ युक्तियुक्त कारण-सहित ।

५

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥

६

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥

७

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥

८

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥

९

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥

हर्ष विषाद ज्ञान अज्ञाना ।
जीव धर्म अहमिति अभिमाना ॥

—तुलसीदास

५

मन बुद्धि एवं महाभूत प्रकृति अहंकृति भाव भी।
पाँचों विषय सब इन्द्रियों के और इन्द्रियगण सभी॥

६

सुख दुःख इच्छा द्वेष धृति[1] संघात[2] एवं चेतना[3]।
संक्षेप में यह क्षेत्र है समुदाय जो इनका बना॥

७

अभिमान दम्भ अभाव, आर्जव[4], शौच, हिंसाहीनता।
थिरता, क्षमा, निग्रह[5] तथा आचार्य-सेवा दीनता॥

८

इन्द्रिय - विषय - वैराग्य एवं मद[6] सदैव निवारना।
जीवन, जरा, दुख, रोग, मृत्यु सदोष नित्य विचारना॥

९

नहिं लिप्त नारी पुत्र में सब त्यागना फल-वासना।
नित शुभ अशुभ की प्राप्ति में भी एकसा रहना बना॥

---

१ धैर्य। २ देह और इन्द्रियों का समूह। ३ तन और मन की चेतन शक्ति। ४ मन और वचन की सरलता। ५ मन और इन्द्रियों सहित शरीर को दूषित प्रवृत्ति से हटाकर सन्मार्ग में लगाना। ६ अहंकार।

१०

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥

११

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥

१२

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥

१३

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥

१४

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥

सन्त चरण पंकज अति प्रेमा । मन क्रम वचन भजन दृढ़ नेमा ॥
मम गुण गावत पुलक सरीरा । गद गद गिरा नयन बह नीरा ॥
कामादिक मद दम्भ न जाके । तात निरन्तर मैं वश ताके ॥–तुलसीदास

१०

मुझमें अनन्य विचार से व्यभिचार-विरहित भक्ति[1] हो।
एकान्त का सेवन, न जन समुदाय में आसक्ति हो॥

११

अध्यात्म-ज्ञान व तत्त्व-ज्ञान विचार, यह सब ज्ञान है।
विपरीत इनके और जो कुछ है सभी अज्ञान है॥

१२

अब वह बताता ज्ञेय जिसके ज्ञान से निस्तार है।
नहिं जो असत् सत् परम ब्रह्म अनादि और अपार है॥

१३

सर्वत्र उसके पाणि[2] पद[3], सिर नेत्र मुख सब ओर ही।
सब ओर उसके कान हैं, सर्वत्र फैला है वही॥

१४

इन्द्रिय-गुणों का भास उसमें किन्तु इन्द्रिय-हीन है।
हो अलग जग-पालक, निगुण होकर गुणों में लीन है॥

---

१ कभी विचलित न होनेवाली भक्ति को व्यभिचार-विरहित या अव्यभिचारिणी भक्ति कहते हैं २ हाथ। ३ पैर।

१५

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥

१६

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥

१७

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥

१८

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥

१९

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥

आदि अन्त कोउ जासु न पावा । मति अनुसार निगम अस गावा ॥
बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना । कर बिनु कर्म करइ विधि नाना ॥
सब कर परम प्रकासक जोई । राम अनादि अवधपति सोई ॥

१५

भीतर व बाहर प्राणियों में दूर भी है पास भी।
वह चर अचर अतिसूक्ष्म है जाना नहीं जाता कभी॥

१६

अविभक्त[1] होकर प्राणियों में वह विभक्त सदैव है।
वह ज्ञेय[2] पालक और नाशक जन्मदाता देव है॥

१७

वह ज्योतियों की ज्योति है, तम से परे है, ज्ञान है।
सब में बसा है, ज्ञेय है, वह ज्ञानगम्य[3] महान है॥

१८

यह क्षेत्र, ज्ञान, महान् ज्ञेय, कहा गया संक्षेप से।
हे पार्थ! इसको जान मेरा भक्त मुझमें आ बसे॥

१९

यह प्रकृति एवं पुरुष दोनों ही अनादि विचार हैं।
पैदा प्रकृति से ही समझ गुण तीन और विकार हैं॥

---

१ आकाश के समान विभागरहित एक रूप। २ जानने के योग्य।
३ तत्त्व-ज्ञान से प्राप्त होनेवाला।

२०

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥

२१

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥

२२

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥

२३

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥

२४

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥

इहि विधि जग हरि आश्रित रहई । यदपि असत्य देत दुख अहई ॥
माया ईश न आप कँह, जानि कहिय सो जीव ।
बन्ध मोक्ष प्रद सर्व पर, माया प्रेरक सीव ॥ तुलसीदास

२०

है कार्य[1] एवं करण की उत्पत्ति कारण प्रकृति ही।
इस जीव को कारण कहा सुख दुःख भोग निमित्त ही॥

२१

रह कर प्रकृति में नित पुरुष करता प्रकृति-गुण भोग है।
अच्छी बुरी सब योनियाँ देता यही गुण-योग है॥

२२

द्रष्टा[2] व अनुमन्ता[3] सदा भर्ता प्रभोक्ता शिव महा।
इस देह में परमात्मा उस पर-पुरुष को है कहा॥

२३

ऐसे पुरुष एवं प्रकृति को गुण सहित जो जान ले।
बरताव कैसा भी करे वह जन्म फिर जग में न ले॥

२४

कुछ आप ही में आप आत्मा देखते हैं ध्यान से।
कुछ कर्मयोगी योग से, कुछ सांख्य-ज्ञानी ज्ञान से॥

---

१ आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, ये कार्य (शरीर) हैं और उनमें स्थित मन बुद्धि, अहंकार तथा दस इन्द्रियाँ ये करण हैं। २ समीप बैठकर देखनेवाला। ३ ठीक सम्मति देनेवाला।

२५

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥

२६

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥

२७

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥

२८

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥

२९

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥

Think of God, the all preserver,
Till they Mental want and pain,
Ignorance and grief, departing.
Never, never come again.—RAJA RAM MOHAN ROY

२५

सुन दूसरों से ही किया करते भजन अनजान हैं।
तरते असंशय मृत्यु वे †श्रुति में लगे मतिमान हैं॥

२६

जानो चराचर जीव जो पैदा हुए संसार में।
सब क्षेत्र के क्षेत्रज्ञ के संयोग से विस्तार में॥

२७

*अविनाशि, नश्वर सर्वभूतों में रहे सम नित्य ही।
इस भांति ईश्वर को पुरुष जो देखता देखे वही॥

२८

जो देखता समभाव से ईश्वर सभी में व्याप्त है।
करता न अपनी घात है, करता परम-पद प्राप्त है॥

२९

करती प्रकृति सब कर्म, आत्मा है अकर्ता नित्य ही।
इस भाँति से जो देखता है, देखता है जन वही॥

---

† सुने हुए में ध्यान लगानेवाले। *सारे नाश होनेवाले भूतों में नाशरहित परमेश्वर समभाव से रहता है।

३०

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥

३१

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥

३२

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥

३३

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥

३४

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

३०

जब प्राणियों की भिन्नता[1] जन एक में देखे सभी।
विस्तार देखे एक से ही ब्रह्म को पाता तभी॥

३१

यह ईश अव्यय, निर्गुण और अनादि होने से सदा।
करता न होता लिप्त है रह देह में भी सर्वदा॥

३२

नभ सर्वव्यापी सूक्ष्म होने से न जैसे लिप्त हो।
सर्वत्र आत्मा देह में रह कर न वैसे लिप्त हो॥

३३

ज्यों एक रवि सम्पूर्ण जग में तेज भरता है सदा।
यों ही प्रकाशित क्षेत्र को क्षेत्रज्ञ करता है सदा॥

३४

क्षेत्रज्ञ एवं क्षेत्र-अन्तर[2] ज्ञान से समझें सही।
†समझें प्रकृति से छूटना जो ब्रह्म को पाते वही॥

तेरहवां अध्याय समाप्त हुआ।

---

१ अलग-अलग भाव। २ क्षेत्र—जड़ विकारी और नाशवान है, क्षेत्रज्ञ—चेतन अविकारी और अविनाशी है। † विकार-सहित प्रकृति से छूटने के उपाय।

चतुर्दशोऽध्यायः

१

श्रीभगवानुवाच—

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥

२

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥

३

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥

४

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥

Praise be unto God, the creator of heaven and earth, ...God maketh what addition He pleaseth unto his creatures; for God is almighty. —QURAN

चौदहवां अध्याय

श्रीभगवान् ने कहा—

१

अतिश्रेष्ठ ज्ञानों में बताता ज्ञान मैं अब और भी ।
मुनि पा गये हैं सिद्धि जिसको जानकर जग में सभी ॥

२

इस ज्ञान का आश्रय लिये जो रूप[1] मेरा हो रहें ।
उत्पत्ति-काल न जन्म लें, लय-काल में न व्यथा सहें ॥

३

इस प्रकृति[2] अपनी योनि में मैं गर्भ[3] रखता हूँ सदा ।
उत्पन्न होते हैं उसीसे[4] सर्व प्राणी सर्वदा ॥

४

सब योनियों में मूर्तियों के जो अनेकों रूप हैं ।
मैं बीज-प्रद उनका पिता हूँ प्रकृति-योनि अनूप हैं ॥

---

१ मेरे साथ एकरूपता को प्राप्त हुए । २ त्रिगुणमयी माया, देखिये अ० ७ का १४ श्लोक । ३ चेतनरूप बीज । ४ उस जड़ और चेतन के संयोग से ।

५

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥

६

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥

७

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥

८

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥

९

सत्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥

जड़ चेतनहिं ग्रन्थि पड़ गई ।
यदपि मृषा छूटत कठिनाई ॥
तीन अवस्था तीन गुण । —तुलसीदास

५

पैदा प्रकृति से सत्त्व, रज, तम त्रिगुण का विस्तार है।
इस देह में ये जीव को लें बांध, जो अविकार है॥

६

अविकार सतगुण है प्रकाशक क्योंकि निर्मल आप है।
यह बांध लेता जीव को सुख ज्ञान से निष्पाप! है॥

७

जानो रजोगुण रागमय, उत्पन्न तृष्णा संग[1] से।
वह बांध लेता जीव को कौन्तेय कर्म-प्रसंग से॥

८

अज्ञान से उत्पन्न तम सब जीव जो मोहित करे।
आलस्य[2] नींद प्रमाद[3] से यह जीव को बंधित करे॥

९

सुख में सतोगुण, कर्म में देता रजोगुण संग है।
ढक कर तमोगुण ज्ञान को देता प्रमाद प्रसंग है॥

---

१ आसक्ति। २ कर्त्तव्य-कर्म में निरुद्यमता। ३ इन्द्रियों और अन्तःकरण की व्यर्थ चेष्टायें।

१०

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥

११

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥

१२

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥

१३

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥

१४

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥

भये विषमता कर्म मंह समता किये न होय ।
तुलसी समता समुझ कर सकल मान मद धोय ॥

१०

रज तम दबें तब सत्व गुण, तम सत्व दबते रज बढ़े।
रज सत्व दबते ही तमोगुण देहधारी पर चढ़े॥

११

जब देह की सब इन्द्रियों में ज्ञान का हो चांदना।
तब जान लेना चाहिये तन में सतोगुण है घना॥

१२

तृष्णा अशान्ति प्रवृत्ति[१] होकर मन प्रलोभन में पड़े।
आरम्भ होते कर्म के अर्जुन! रजोगुण जब बढ़े॥

१३

कौन्तेय! मोह प्रमाद हो, जब हो न मन में चांदना।
उत्पन्न हो आलस्य जब होता तमोगुण है घना॥

१४

इस जीव में यदि सत्त्वगुण की वृद्धि मरते काल है।
तो प्राप्त करता ज्ञानियों का शुद्ध लोक विशाल है॥

---

१ सांसारिक चेष्टा।

१५

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते॥

१६

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम्॥

१७

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च॥

१८

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥

१९

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥

जहाँ रहत वर्तत तहाँ तुलसी नित्य स्वरूप।
भूत न भावी ताहि कहँ अतिशय अमल अनूप॥

१५

रज - वृद्धि में मर देह कर्मासक्त पुरुषों में धरे।
जड़[1] योनियों में जन्मता, यदि जन तमोगुण में मरे॥

१६

फल पुण्य कर्मों का सदा शुभ श्रेष्ठ सात्त्विक ज्ञान है।
फल दुख रजोगुण का, तमोगुण-फल सदा अज्ञान है॥

१७

उत्पन्न सत से ज्ञान, रज से नित्य लोभ प्रधान है।
है मोह और प्रमाद तमगुण से सदा अज्ञान है॥

१८

सात्त्विक पुरुष स्वर्गादि में, नर-लोक में राजस बसें।
जो तामसी गुण में बसें, वे जन अधोगति में फँसें॥

१९

कर्ता न कोई तज त्रिगुण यह देखता द्रष्टा[2] जभी।
†जाने गुणों से पार जब, पाता मुझे है जन तभी॥

१ पशु पक्षी आदि मूढ़ योनियों में। २ देखनेवाला।
†गुणों से परे परमेश्वर को जानता है तभी मुझ परब्रह्म को पाता है।

२०

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥

अर्जुन उवाच—

२१

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥

श्रीभगवानुवाच—

२२

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति ॥

२३

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ॥
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥

२४

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥

निज गुण श्रवण सुनत सकुचाहीं । परगुण सुनत अधिक हर्षाहीं ।
सम शीतल नहिं त्यागहिं नीती । सरल स्वभाव सबहिं सन प्रीती ॥
—तुलसीदास

२०

जो देहधारी, †देह-कारण पार ये गुण तीन हो।
छुट जन्म मृत्यु जरादि दुख से वह अमृत में लीन हो॥

अर्जुन ने कहा—

२१

लक्षण कहो उनके प्रभो जन जो त्रिगुण से पार हैं।
किस भांति होते पार क्या उनके कहो आचार हैं॥

श्रीभगवान् ने कहा—

२२

पाकर प्रकाश, प्रवृत्ति, मोह, न पार्थ! इनसे द्वेष है।
यदि हों नहीं वे प्राप्त, उनकी लालसा न विशेष है॥

२३

रहता उदासी-सा गुणों से हो नहीं विचलित कहीं।
सब त्रिगुण करते कार्य हैं यह जान जो डिगता नहीं॥

२४

है स्वस्थ[1] सुख-दुख सम जिसे, सम ढेल पत्थर स्वर्ण भी।
जो धीर, निन्दास्तुति जिसे सम, तुल्य अप्रिय-प्रिय सभी॥

---

†स्थूल शरीर, प्रकृति से उत्पन्न गुणों का ही कार्य है; अस्तु गुणों को देह का कारण कहा है। १ निरन्तर आत्मभाव में लगा हुआ!

२५

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥

२६

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

२७

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥



गुणागार संसार दुख रहित विगत सन्देह ।
तजि मम चरण सरोज प्रिय तिन कहँ देह न गेह ॥

—तुलसीदास

२५

सम बन्धु[1] वैरी हैं जिसे अपमान मान समान है।
आरम्भ त्यागे जो सभी वह गुणातीत[2] महान है॥

२६

जो शुद्ध निश्चल[3] भक्ति से भजता मुझे है नित्य ही।
तीनों गुणों से पार होकर ब्रह्म को पाता वही॥

२७

अव्यय अमृत मैं और मैं ही ब्रह्मरूप महान हूँ।
मैं ही सनातनधर्म और अपार मोद-निधान हूँ॥

चौदहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।



१ मित्र। २ गुणों से पार। ३ अव्यभिचारिणी भक्ति।

पञ्चदशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच—

१

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥

२

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥

३

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥

४

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः ।

बटक बीज जैसा आकार ।
पसरयो तीन लोक पासार ॥

—रैदास

पन्द्रहवां अध्याय

श्रीभगवान् ने कहा—

१

है मूल ऊपर शाख नीचे पत्र जिसके वेद हैं।
वे *वेदवित् जो जानते अश्वत्थ - अव्यय - भेद हैं॥

२

पल्लव[1] विषय, गुण से पली अध-ऊर्ध्व[2] शाखा छा रहीं।
नर - लोक में नीचे जड़ें कर्मानुबन्धी[3] जा रहीं॥

३

उसका यहाँ मिलता स्वरूप न आदि मध्याधार से।
दृढ़मूल यह अश्वत्थ काट असंग शस्त्र-प्रहार से॥

४

फिर वह निकालो ढूंढकर पद श्रेष्ठ ठीक प्रकार से।
कर प्राप्त जिसको फिर न लौटे, छूटकर संसार से॥

---

* जो संसार रूप वृक्ष को तत्त्व से जानते हैं। १ कोपल।
२ नीचे ऊपर। ३ कर्म के अनुसार बाँधनेवाली।

तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥

५

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥

६

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥

७

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥

ईश्वर अंश जीव अविनाशी ।
चेतन अमल सहज सुख राशी ॥

मैं शरण उसकी हूँ पुरुष जो आदि और महान है।
उत्पन्न जिससे सब पुरातन यह प्रवृत्ति-विधान है॥

५

जीता जिन्होंने संग-दोष न मोह जिनमें मान है।
मन में सदा जिनके जगा अध्यात्म-ज्ञान प्रधान है॥
जिनमें न कोई कामना सुख दुःख और न द्वन्द्व ही।
अव्यय परमपद को सदा ज्ञानी पुरुष पाते वही॥

६

जिसमें न सूर्य्य प्रकाश चन्द्र न आग ही का काम है।
लौटे न जन जिसमें पहुँच मेरा वही पर[1] धाम है॥

७

इस लोक में मेरा सनातन अंश है यह जीव ही।
मन के सहित छै प्रकृतिवासी खींचता इन्द्रिय वही॥

१ परमधाम—देखिये अध्याय ८ का श्लोक २१।

८

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥

९

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥

१०

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥

११

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥

१२

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥

सहज प्रकाश रूप भगवाना ।
नहिं तँह पुनि विज्ञान विहाना ॥

८

जब जीव लेता देह अथवा त्यागता सम्बन्ध को।
करता ग्रहण इनको[1] सुमन से वायु जैसे गंध को॥

९

रसना[2], त्वचा, दृग[3], कान एवं नाक, मन-आश्रय लिये।
यह जीव सब सेवन किया करता विषय निर्मित किये॥

१०

जाते हुए तन त्याग, रहते, भोगते गुणयुक्त[4] भी।
जानें न इसको मूढ़ मानव, जानते ज्ञानी सभी॥

११

कर यत्न योगी आपमें इसको बसा पहिचानते।
पर यत्न करके भी न मूढ़ अशुद्ध-आत्मा जानते॥

१२

जिससे प्रकाशित है जगत्, जो तेज दिव्य दिनेश में।
वह तेज मेरा तेज है जो अग्नि में राकेश[5] में॥

१ मन और इन्द्रियों को। २ जीभ। ३ आँख। ४ तीनों गुणों से युक्त हुए को। ५ चन्द्रमा।

१३

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः॥

१४

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥

१५

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्॥

१६

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥

१७

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥

Fearing Him, the sun is shining
And the mild Moon walks abroad.
And the ceaseless winds are moving.
Moving in the fear of God—Raja Ram Mohan Roy.

१३

क्षिति[1] में बसा निज तेज से मैं प्राणियों को धर[2] रहा।
रस रूप होकर सोम[3] सारी पुष्ट औषधि कर रहा॥

१४

मैं प्राणियों में बस रहा हो रूप वैश्वानर महा।
पाचन चतुर्विध अन्न प्राणापान-युत हो कर रहा॥

१५

सुधि ज्ञान और अपोह[4] मुझसे मैं सभी में बस रहा।
वेदान्तकर्ता वेदवेद्य[5] सुवेदवित्[6] मुझको कहा॥

१६

इस लोक में क्षर और अक्षर दो पुरुष हैं सर्वदा।
क्षर सर्व भूतों को कहा कूटस्थ है अक्षर सदा॥

१७

कहते जिसे परमात्मा उत्तम पुरुष इनसे परे।
त्रैलोक्य में रह ईश अव्यय सर्व जग पोषण करे॥

---

१ पृथ्वी। २ धारण करता हूँ। ३ चन्द्रमा। ४ उनका लोप।
५ वेदों से जानने के योग्य। ६ वेदों का जाननेवाला।

१८

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥

१९

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥

२०

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ।
एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुरुषोत्तमयोगोनाम
पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥



गीता अक्षर ब्रह्म बतावे । क्षर माया सोइ दृष्टि दिखावे ॥
जीव आत्म परमातम दोऊ । परमातम जानत है कोऊ ॥
परब्रह्म पुरुषोत्तम जानो । चरणदास के सो मन मानो ॥—चरणदास

१८

क्षर और अक्षर से परे मैं श्रेष्ठ हूँ संसार में।
इस हेतु पुरुषोत्तम कहाया वेद लोकाचार में॥

१९

तज मोह पुरुषोत्तम मुझे जो पार्थ! लेता जान है।
सब भाँति वह सर्वज्ञ[1] हो भजता मुझे मतिमान् है॥

२०

मैंने कहा यह गुप्त से भी गुप्त ज्ञान महान् है।
यह जानकर करता सदा जीवन सफल मतिमान् है॥

पन्द्रहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।



१ सब कुछ जाननेवाला।

षोडशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच—

१

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥

२

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥

३

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत॥

४

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम्॥

षट विकार तजि अनघ अकामा। अचल अकिञ्चन शुचि सुख धामा॥
सावधान मानद मद हीना। धीर भक्ति पथ परम प्रवीना॥
—तुलसीदास

सोलहवां अध्याय

श्रीभगवान् ने कहा—

१

भय-हीनता, *दम, सत्त्व की संशुद्धि, दृढ़ता[1] ज्ञान की।
तन-मन सरलता, यज्ञ, तप, स्वाध्याय, सात्त्विक दान भी॥

२

मृदुता, अहिंसा, सत्य, करुणा, शान्ति, क्रोध-विहीनता।
लज्जा, अचञ्चलता, अनिन्दा[2], त्याग, तृष्णाहीनता॥

३

धृति, तेज, पावनता, क्षमा, अद्रोह, मान-विहीनता।
ये चिन्ह उनके पार्थ! जिनको प्राप्त दैवी-सम्पदा॥

४

मद[3], मान, मिथ्याचार, क्रोध, कठोरता, अज्ञान भी।
ये आसुरी सम्पत्ति में जन्मे हुए पाते सभी॥

---

*इन्द्रिय-दमन, १ ज्ञानयोग में निरन्तर दृढ़ स्थिति। २ किसी की निन्दा न करना। ३ धन, परिवार से होनेवाला गर्व।

५

दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव॥

६

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु॥

७

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते॥

८

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम्॥

९

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः॥

अवगुनसिंधु मन्दमति कामी। बेद विदूषक पर धन स्वामी॥
करहिं मोह बश नर अघ नाना। स्वारथ रत परलोक नसाना॥

—तुलसीदास

५

दे मोक्ष दैवी, बाँधती है आसुरी सम्पत्ति ये।
मत शोक अर्जुन ! कर हुआ तू दैव-संपद् को लिये ॥

६

दो भांति की है सृष्टि दैवी, आसुरी संसार में।
सुन आसुरी अब पार्थ ! दैवी कह चुका विस्तार में ॥

७

*क्या है प्रवृत्ति निवृत्ति ! जग में जानते आसुर नहीं।
आचार, सत्य, विशुद्धता होती नहीं उनमें कहीं ॥

८

कहते असुर झूठा जगत्, बिन ईश बिन आधार है।
केवल परस्पर योग से बस[1] भोग-हित संसार है ॥

९

इस दृष्टि को धर, मूढ़ नर, नष्टात्म, रत अपकार में।
जग - नाश हित वे क्रूर-कर्मी जन्मते संसार में ॥

---

*क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये ? १ बस इसके सिवाय और क्या।

१०

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥

११

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥

१२

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥

१३

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥

१४

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥

मन ही मन में भोगे भोग। हाथ न आवे उपजे सोग ॥
कबहूँ चितवै द्रव्य चुराऊँ। वाको धन अपने घर लाऊँ ॥
भांति-भांति चितवन उपजावै। बुरे मनोरथ कर्म लगावै ॥—चरणदास

१०

मद मान दम्भ-विलीन, काम अपूर[1] का आश्रय लिये।
वर्तें अशुचि नर मोह वश होकर असत् आग्रह किये॥

११

उनमें मरण पर्यन्त चिन्ताएँ अनन्त सदा रहें।
वे भोग-विषयों में लगे आनन्द उसही को कहें॥

१२

आशा कुबन्धन में बँधे, धुन क्रोध एवं काम की।
सुख-भोग हित अन्याय से इच्छा करें धन धाम की॥

१३

यह पा लिया अब वह मनोरथ सिद्ध कर लूंगा सभी।
यह धन हुआ मेरा मिलेगा और भी आगे अभी॥

१४

यह शत्रु मैंने आज मारा, कल हनूंगा[2] और भी।
भोगी, सुखी, बलवान्, ईश्वर, सिद्ध हूँ, मैं ही सभी॥

---

१ किसी प्रकार भी पूर्ण न होनेवाला। २ मारूँगा।

१५

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥

१६

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥

१७

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥

१८

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥

१९

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥

मैं ही थोंकर योंकर करिया। मो बिन कारज कछू न सरिया ॥
अपने को चतुरा बहु जानै। और सबन को मूरख मानै ॥
गर्व भरा खोटी वृति धारै। अपने मन में कबहुँ न हारै ॥—चरणदास

१५

श्रीमान् और कुलीन मैं हूँ कौन मुझसे और हैं।
मख[1], दान, सुख भी मैं करूँगा, मूढ़ता-मोहित[2] कहें॥

१६

भूले अनेकों कल्पना में मोह-बन्धन बीच हैं।
वे काम भोगों में फँसे पड़ते नरक में नीच हैं॥

१७

धन, मान, मद में मस्त, ऐंठू निज-प्रशंसक[3] अज्ञ हैं।
वे दम्भ से विधिहीन करते नाम ही को यज्ञ हैं॥

१८

बल, काम क्रोध, घमण्ड वश, निन्दा करें मद से तने।
सब में व अपने में बसे मुझ देव के द्वेषी बने॥

१९

जो हैं नराधम क्रूर द्वेषी लीन पापाचार में।
उनको गिराता नित्य आसुर योनि में संसार में॥

१ यज्ञ। २ अज्ञान से मोहित। ३ अपने को बड़ा माननेवाले।

२०

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमांगतिम् ॥

२१

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥

२२

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥

२३

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥

२४

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे दैवासुरसंपद्विभागयोगो-नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

२०

वे जन्म - जन्म सदैव आसुर योनि ही पाते रहें।
मुझको न पाकर अन्त में अति ही अधोगति को गहें॥

२१

ये काम लालच क्रोध तीनों ही नरक के द्वार हैं।
इस हेतु तीनों आत्म-नाशक त्याज्य सर्वप्रकार हैं॥

२२

इन नरक द्वारों से पुरुष जो मुक्त पार्थ! सदैव ही।
शुभ आचरण निज हेतु करता परमगति पाता वही॥

२३

जो शास्त्रविधि को छोड़, करता कर्म मनमाने सभी।
वह सिद्धि, सुख अथवा परमगति को न पाता है कभी॥

२४

इस हेतु कार्य्य-अकार्य-निर्णय मान शास्त्र-प्रमाण ही।
करना कहा जो शास्त्र में है, जानकर वह, कर वही॥

सोलहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।



सप्तदशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच— १

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः॥

श्रीभगवानुवाच— २

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु॥

३

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥

४

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः॥

श्रद्धा बिना धर्म नहिं होई। —तुलसीदास

राजस तामस सात्विक जानो। एही त्रैगुण मन में आनो॥

—चरणदास

सत्रहवाँ अध्याय

१

अर्जुन ने कहा—

करते यजन जो शास्त्रविधि को छोड़ श्रद्धायुक्त हो।
हे कृष्ण! उनकी सत्त्व, रज, तम कौनसी निष्ठा[1] कहो॥

२

श्रीभगवान् ने कहा—

श्रद्धा स्वभावज[2] प्राणियों में पार्थ! तीन प्रकार से।
सुन सात्त्विकी भी राजसी भी तामसी विस्तार से॥

३

श्रद्धा सभी में सत्त्व सम, श्रद्धा स्वरूप मनुष्य है।
जिसकी रहे जिस भांति श्रद्धा वह उसी-सा नित्य है॥

४

सात्त्विक सुरों का, यक्ष राक्षस का यजन[3] राजस करें।
नित भूत प्रेतों का यजन जन तामसी मन में धरें॥

---

१ स्थिति। २ जन्म-जन्मों में किये हुए कर्मों के संस्कारों से उत्पन्न हुई श्रद्धा स्वभावज होती है। ३ पूजन।

५

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥

६

कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तः शरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥

७

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥

८

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥

९

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥

अभिमानी ऐसा मन लावे। हरि के गुण किरिया बिसरावे ॥
वैर भाव में अवगुण भारी। तन छूटे जा नरक मझारी ॥
—चरणदास

५

जो घोर तप तपते पुरुष हैं शास्त्र-विधि से हीन हो।
मद-दम्भ-पूरित,[1] कामना बल राग के आधीन हो॥

६

तन पंच-भूतों को, मुझे[2] भी—देह में जो बस रहा।
जो कष्ट देते जान उनको मूढ़मति आसुर महा॥

७

हे पार्थ ! प्रिय सबको सदा आहार तीन प्रकार से।
इस भाँति ही तप दान मख भी हैं, सुनो विस्तार से॥

८

दें आयु, सात्त्विकबुद्धि, बल, सुख, प्रीति, एवं स्वास्थ्य भी।
रसमय चिरस्थिर हृद्य[3] चिकने खाद्य[4] सात्त्विक प्रिय सभी॥

९

नमकीन, कड़ु, खट्टे, गरम, रूखे व दाहक, तीक्ष्ण ही।
दुख-शोक-रोगद खाद्य, प्रिय हैं राजसी को नित्य ही॥

---

१ अहंकार। २ अन्तःकरण में स्थित मुझ अन्तर्यामी को। ३ स्वभाव से ही मन को प्रिय। ४ आहार।

१०

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥

११

अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥

१२

अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥

१३

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥

१४

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥

राजस सो तामस बढ़ें, तामस सों बुद्धि नास ।
रजगुण तमगुण छोड़ के, करो सतोगुण वास ॥—चरणदास

१०

रक्खा हुआ कुछ काल का, रसहीन, बासी या सड़ा।
नर तामसी अपवित्र भोजन भोगते जूठा पड़ा॥

११

फल-आश तज, जो शास्त्र[1]-विधिवत्, मान कर कर्तव्य ही।
अतिशान्त मन करके किया हो, यज्ञ सात्त्विक है वही॥

१२

हे भरतश्रेष्ठ! सदैव ही फल-वासना जिसमें बसी।
दम्भाचरण[2] हित जो किया वह यज्ञ जानो राजसी॥

१३

विधि-अन्नदान-विहीन जो, बिन दक्षिणा के हो रहा।
बिन मन्त्र-श्रद्धा, यज्ञ जो वह तामसी जाता कहा॥

१४

सुर द्विज तथा गुरु प्राज्ञ[3] पूजन ब्रह्मचर्य सदैव ही।
शुचिता अहिंसा नम्रता तन की तपस्या है यही॥

---

१ शास्त्रविधि से किया हुआ। २ पाखण्ड के लिये।
३ ज्ञानी जन।

१५

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥

१६

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥

१७

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥

१८

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥

१९

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥

अकामतः श्रद्धया च यत्तपः सात्त्विकं च तत् ।
श्रद्धयै सत्कारपूजार्थं सदम्भं राजसं तपः ॥

—गणेश गीता

१५

सच्चे वचन, प्रिय और हितकर, दुख न जिनसे हो कभी ।
स्वाध्याय[1] का अभ्यास भी, वाणी तपस्या है सभी ॥

१६

सौम्यत्व[2], मौन, प्रसाद[3] मन का, शुद्ध भाव सदैव ही ।
करना मनोनिग्रह सदा मन की तपस्या है यही ॥

१७

श्रद्धा सहित हो योगयुत फल वासनाएँ तज सभी ।
करते पुरुष, तप ये त्रिविध, सात्त्विक तपस्या है तभी ॥

१८

सत्कार पूजा मान के हित दम्भ से जो हो रहा ।
वह तप अनिश्चित[4] और नश्वर, राजसी जाता कहा ॥

१९

जो मूढ़-हठ से आपही को कष्ट देकर हो रहा ।
अथवा किया पर-नाश-हित, तप तामसी उसको कहा ॥

---

१ शास्त्रों का पठन-पाठन तथा परमेश्वर का भजन । २ शान्त-भाव । ३ प्रसन्नता । ४ जिसका फल होने में शंका हो ।

२०

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥

२१

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥

२२

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥

२३

ॐतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥

२४

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥

विधिवाक्यप्रमाणार्थं सत्पात्रे देशकालतः ।
श्रद्धया दीयमानं यद्दानं तत्सात्त्विकं मतम् ॥

—गणेश गीता

२०

देना समझ कर अनुपकारी[1] को दिया जो दान है।
वह दान सात्त्विक देश काल सुपात्र का जब ध्यान है॥

२१

जो दान प्रत्युपकार[2] के हित क्लेश पाकर के किया।
है राजसी वह दान जो फल आश के हित है दिया॥

२२

बिन देश काल सुपात्र देखे जो दिया बिन मान है।
अथवा दिया अवहेलना से तामसी वह दान है॥

२३

शुभ ॐ तत् सत् ब्रह्म का यह त्रिविध उच्चारण कहा।
निर्मित इसीसे आदि में हैं, वेद ब्राह्मण मख महा।

२४

इस हेतु कहकर ॐ होते नित्य मख तप दान भी।
सब ब्रह्मनिष्ठों के सदा शास्त्रोक्त कर्म-विधान भी॥

---

१ प्रत्युपकार न करनेवाले को। २ किये हुए उपकार के बदले।

२५

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपः क्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः ॥

२६

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥

२७

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥

२८

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

श्रद्धा बिना धर्म नहिं होई । बिनु महि गन्ध कि पावै कोई ।
कउनिउ सिद्धि कि बिनु बिस्वासा । बिनु हरि भजन न भव भय नासा ॥

—तुलसीदास

२५

कल्याण-इच्छुक त्याग फल 'तत्' शब्द कहकर सर्वदा।
तप यज्ञ दान क्रियादि करते हैं विविध विध से सदा॥

२६

सद् साधु भावों के लिये 'सत्' का सदैव प्रयोग है।
हे पार्थ! उत्तम कर्म में 'सत्' शब्द का उपयोग है॥

२७

'सत्' ही कहाती दान तप में यज्ञ में दृढ़ता[1] सभी।
कहते उन्हें 'सत्' ही सदा उनके लिये जो कर्म भी॥

२८

सब ही असत् श्रद्धा बिना जो होम तप या दान है।
*देता न वह इस लोक में या मृत्यु पर कल्यान है॥

सत्रहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

१ दृढ़स्थिति। *न इस लोक में लाभदायक है और न मरने के पीछे।

अष्टादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच—

१

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥

श्रीभगवानुवाच—

२

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥

३

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥

४

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥

ब्रह्मरूप ब्रह्महि जपत ममता मोह विहीन ।
सो संन्यासी श्रेष्ठ है उदासीन मतिपीन ॥

—विदुर नीति

अठारहवाँ अध्याय

अर्जुन ने कहा— १

संन्यास एवं त्याग-तत्व, पृथक् महाबाहो ! कहो।
इच्छा मुझे है हृषीकेश ! समस्त इनका ज्ञान हो॥

श्रीभगवान् ने कहा— २

सब काम्य-कर्मन्यास[1] ही संन्यास ज्ञानी मानते।
सब कर्मफल के त्याग ही को त्याग विज्ञ बखानते॥

३

हैं दोषवत् सब कर्म कहते त्याज्य[2] कुछ विद्वान् हैं।
तप दान यज्ञ न त्यागिये कुछ दे रहे यह ज्ञान हैं॥

४

हे पार्थ ! सुन जो ठीक मेरा त्याग हेतु विचार है।
हे पुरुषव्याघ्र ! कहा गया यह त्याग तीन प्रकार है॥

---

१ फल की आशा से किये हुए कर्मों का त्याग। २ तजने के योग्य।

५

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥

६

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥

७

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥

८

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥

९

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
सङ्गंत्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥

इच्छा डोलत बहु फलहिं नहिं उर आनत ज्ञान ।
सो संन्यासी नष्ट है ता हित नरक महान ॥

—विदुर नीति

५

मख दान तप ये कर्म करने योग्य त्याज्य न हैं कभी।
मख दान तप विद्वान् को भी शुद्ध करते हैं सभी॥

६

ये कर्म भी आसक्ति बिन हो, त्याग कर फल नित्य ही।
करने उचित हैं पार्थ! मेरा श्रेष्ठ निश्चित मत यही॥

७

निज नियत[1]-कर्म न त्यागने के योग्य होते हैं कभी।
यदि मोह से हो त्याग तो वह त्याग तामस है सभी॥

८

दुख जान कायाक्लेश भय से कर्म यदि त्यागे कहीं।
वह राजसी है त्याग उसका फल कभी मिलता नहीं॥

९

फल, संग, तज जो कर्म नियमित कर्म अपना मान है।
माना गया वह त्याग शुभ सात्त्विक सदैव महान् है॥

---

१ स्वधर्म के अनुसार निश्चित।

१०

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः॥

११

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते॥

१२

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित्॥

१३

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्॥

१४

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥

प्रिय और अप्रिय त्याग करके जो सर्वत्र अनासक्त अनाश्रित तथा संयोजनों से विमुख है वही इस जगत में सम्यक् परिव्राजक है।

—सम्मा परिब्बाजनिय सुत

१०

नहिं द्वेष अकुशल[1] कर्म से, जो कुशल में नहिं लीन है।
संशयरहित त्यागी वही है सत्त्वनिष्ठ[2] प्रवीन[3] है॥

११

सम्भव नहीं है देहधारी त्याग दे सब कर्म ही।
फल कर्म के जो त्यागता, त्यागी कहा जाता वही॥

१२

पाते सकामी देह तज फल शुभ अशुभ मिश्रित सभी।
त्यागी पुरुष को पर न होता है त्रिविध फल ये कभी॥

१३

हैं पांच कारण जानलो सब कर्म होने के लिये।
सुन मैं सुनाता सांख्य के सिद्धान्त में जो भी दिये॥

१४

आधार[4] कर्ता और सब साधन पृथक् विस्तार से।
चेष्टा विविध विध, दैव, ये हैं हेतु पाँच प्रकार के॥

---

१ अकल्याण-कारक। २ सतोगुण से युक्त। ३ ज्ञानवान्।
४ जिसके आश्रय से कर्म किये जायें।

१५

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥

१६

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥

१७

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमांल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥

१८

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः॥

१९

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि॥

फल कारन फूलै बन राई। उपजे फल तब पुहुप बिलाई॥
ज्ञानहिं कारन करम कराई। उपजै ज्ञान तो करम नसाई॥
—रैदास

१५

तन मन वचन से जन सभी जो कर्म जग में कर रहे।
हों ठीक[1] या विपरीत उनके पाँच ये कारण कहे॥

१६

जो मूढ़ अपने आपको ही किन्तु कर्ता मानता।
उसकी नहीं है शुद्ध बुद्धि न ठीक वह कुछ जानता॥

१७

जो जन अहंकृतिभाव बिन, नहिं लिप्त जिसकी बुद्धि भी।
नहिं मारता वह मारकर भी, है न बन्धन में कभी॥

१८

नित ज्ञान ज्ञाता ज्ञेय *करते कर्म में हैं प्रेरणा।
है कर्मसंग्रह, करण, कर्ता, कर्म तीनों से बना॥

१९

सुन ज्ञान एवं कर्म, कर्ता भेद गुण अनुसार हैं।
जैसे कहे हैं सांख्य में वे सर्व तीन प्रकार हैं॥

---

१ शास्त्र के अनुसार। *इन तीनों से कर्म करने की इच्छा होती है।

२०

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥

२१

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥

२२

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥

२३

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥

२४

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥

मैं तू यह वह भूल करि, रहै जु सहज सुभाय ।
आपा देहि उठाय करि, ज्ञान समाधि लगाय ॥
—चरणदास

२०

सब भिन्न भूतों में अनश्वर एक भाव अभिन्न ही।
जिस ज्ञान से जन देखता है, ज्ञान सात्त्विक है वही॥

२१

जिस ज्ञान से सब प्राणियों में भिन्नता का भान है।
सबमें अनेकों भाव दिखते, राजसी वह ज्ञान है॥

२२

*जो एक ही लघुकार्य में आसक्त पूर्ण-समान है।
निःसार युक्ति-विहीन है वह तुच्छ तामस ज्ञान है॥

२३

फल-आश-त्यागी नित्य नियमित कर्म जो भी कर रहा।
बिन राग द्वेष, असंग हो, वह कर्म सात्त्विक है कहा॥

२४

आशा लिये फल की अहंकृत-बुद्धि से जो काम है।
अति ही परिश्रम से किया, राजस उसी का नाम है॥

---

*एक ही बात में यह समझ कर आसक्त रहता है कि यही सब कुछ है।

२५

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ।।

२६

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ।।

२७

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ।।

२८

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठोनैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ।।

२९

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ।।

कारज करिय विचार कै, कर्म लिखी सोइ होय ।
पीछे उपजे ताप नहिं, निन्दा करे न कोय ।।

—विदुर नीति

२५

परिणाम, पौरुष, हानि, हिंसा का न जिसमें ध्यान है।
वह तामसी है कर्म जिसके मूल में अज्ञान है॥

२६

विन अहंकार, असंग, धीरजवान्, उत्साही महा।
अविकार सिद्धि असिद्धि में सात्त्विक वही कर्ता कहा॥

२७

हिंसक, विषय-मय, लोभ-हर्ष-विषाद-युक्त मलीन है।
फल कामना में लीन, कर्ता राजसी वह दीन है॥

२८

चंचल, घमण्डी, शठ, विषादी[1], दीर्घसूत्री[2], आलसी।
शिक्षा-रहित, पर-हानि-कर, कर्ता कहा है तामसी॥

२९

होते त्रिविध ही हे धनंजय! बुद्धि धृति के भेद भी।
सुन भिन्न-भिन्न समस्त गुण-अनुसार कहता हूँ अभी॥

---

१ अप्रसन्न चित्तवाला। २ जो थोड़े से काम को फिर कर लेंगे इस आशा से महीनों पूरा नहीं करता।

३०

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥

३१

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥

३२

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥

३३

धृत्या यया धारयते मनः प्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥

३४

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥

यह दुःख है, यह दुःख का समुदाय है, यह दुःख का निरोध है और यह दुःख निरोध का मार्ग है, यह वह यथार्थ रीति से जानता है ।

—दीघ निकाय

३०

जाने *प्रवृत्ति निवृत्ति बन्धन मोक्ष कार्य अकार्य्य भी।
हे पार्थ ! सात्त्विक बुद्धि है जो भय अभय जाने सभी॥

३१

जिस बुद्धि से निर्णय न कार्य अकार्य बीच यथार्थ है।
जाने न धर्म अधर्म को वह राजसी मति पार्थ ! है॥

३२

तम-व्याप्त हो जो बुद्धि धर्म अधर्म ही को मानती।
वह तामसी जो नित्य अर्जुन ! अर्थ उलटे जानती॥

३३

जब जन अचल धृति से क्रिया मन प्राण इन्द्रिय की सभी।
धारण करे नित योग से, धृति शुद्ध सात्त्विक है तभी॥

३४

आसक्ति से फल-कामना-प्रिय धर्म अर्थ व काम है।
धारण किये जिससे उसीका राजसी धृति नाम है॥

---

*किसी कर्म के करने को और न करने को अर्थात् करने के योग्य क्या है और न करने के योग्य क्या है।

३५

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥

३६

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥

३७

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥

३८

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥

३९

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥

शील गहनि सब की सहनि, कहनि हीय मुख राम ।
तुलसी रहिये यहि रहनि, सन्त जनन को काम ॥

—वैराग्य संदीपिनी

३५

तामस वही धृति पार्थ ! जिससे स्वप्न, भय उन्माद को।
तजता नहीं दुर्बुद्धि मानव, शोक और विषाद को॥

३६

अब सुन त्रिविध सुख-भेद भी जिसके सदा अभ्यास से।
सब दुःख का कर अन्त अर्जुन ! जन उसी में जा बसे॥

३७

आरम्भ में विषवत्, सुधा[1] सम किन्तु मधु परिणाम है।
जो आत्म-बुद्धि-प्रसाद-सुख[2], सात्त्विक उसी का नाम है॥

३८

राजस वही सुख है कि जो *इन्द्रिय-विषय-संयोग से।
पहिले सुधा सम, अन्त में विष-तुल्य हो फल-भोग से॥

३९

आरम्भ एवं अन्त में जो मोह जन को दे रहा।
आलस्य नींद प्रमाद से उत्पन्न सुख तामस कहा॥

---

१ अमृत। २ जो आत्म-बुद्धि की प्रसन्नता से प्राप्त होता है।
*विषय और इन्द्रियों के संयोग से।

४०

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥

४१

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥

४२

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥

४३

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥

४४

कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥

शम दम त्याग विराग तप, शीलवन्त श्रुतिवन्त ।
ज्ञान जुक्ति सों जुक्त जो, सो द्विज द्विज-कुलकन्त ॥

—विदुर नीति

४०

इस भूमि पर आकाश अथवा देवताओं में कहीं।
हो प्रकृति के इन तीन गुण से मुक्त ऐसा कुछ नहीं॥

४१

द्विज और क्षत्रिय वैश्य शूद्रों के परंतप! कर्म भी।
उनके स्वभावज[1] ही गुणों अनुसार बांटे हैं सभी॥

४२

शम[2] दम[3] क्षमा तप शुद्धि आस्तिक बुद्धि भी विज्ञान भी।
द्विज के स्वभावज कर्म हैं, तन-मन-सरलता ज्ञान भी॥

४३

धृति शूरता तेजस्विता रण से न हटना धर्म है।
चातुर्य्य स्वामीभाव देना दान क्षत्रिय कर्म है॥

४४

कृषि[4] धेनु-पालन[5] वैश्य का वाणिज्य करना कर्म है।
नित कर्म शूद्रों का स्वभावज लोक-सेवा-धर्म है॥

---

१ स्वभाव से उत्पन्न हुए अर्थात् प्रकृति-सिद्ध गुणों के अनुसार।
२ अन्तःकरण का निग्रह। ३ इन्द्रियों का दमन। ४ खेती। ५ गौ-पालन

४५

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥

४६

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥

४७

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥

४८

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥

४९

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥

दान वीर रणधीर पुनि, आस्तिक वर धर्मिष्ठ ।
तेज सूरता जस सहित, सो क्षत्रिन में सिष्ठ ॥
—विदुर नीति

४५

करता रहे जो कर्म निज-निज सिद्धि पाता है वही।
निज-कर्म-रत[1] नर सिद्धि सुन किस भांति पाता नित्य ही॥

४६

जिससे प्रवृत्ति[2] समस्त जीवों की तथा जग व्याप्त है।
निज कर्म से नर पूज उसको सिद्धि करता प्राप्त है॥

४७

निज धर्म निर्गुण श्रेष्ठ है, सुन्दर सुलभ पर-धर्म से।
होता न पाप स्वभाव के अनुसार अपने कर्म से॥

४८

निज नियत कर्म सदोष हों, तो भी उचित नहिं त्याग है।
सब कर्म दोषों से घिरे जैसे धुएँ से आग है॥

४९

वश में किये मन, मति[3] असक्त, न कामना कुछ व्याप्त हो।
नैष्कर्म्य-सिद्धि महान तब, संन्यास द्वारा प्राप्त हो॥

१ अपने कर्म में लगा हुआ। २ उत्पत्ति। ३ आसक्ति-रहित बुद्धि।

५०

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥

५१

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥

५२

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥

५३

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

५४

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥

The latest gospel in this world is, know thy work and do it.

—CARLYLE.

५०

जिस भांति पाकर सिद्धि होती ब्रह्म-प्राप्ति सदैव ही।
संक्षेप में सुन ज्ञान की अर्जुन परा-निष्ठा वही॥

५१

कर आत्म-संयम धैर्य से अतिशुद्ध मति में लीन हो।
सब त्याग शब्दादिक विषय, नित राग-द्वेष-विहीन हो॥

५२

एकान्तसेवी अल्प-भोजी[१] तन वचन मन वश किये।
हो ध्यान-युक्त सदैव ही, वैराग्य का आश्रय लिये॥

५३

बल अहंकार[२] घमंड संग्रह क्रोध काम विमुक्त हो।
ममतारहित नर शान्त, ब्रह्म-विहार[३] के उपयुक्त हो॥

५४

जो ब्रह्मभूत[४] प्रसन्न-मन है, चाह-चिन्ता-हीन है।
सम भाव सबमें[५] साध, होता भक्ति में लवलीन है॥

---

१ हल्का और अल्प भोजन करनेवाला। २ शरीर इन्द्रियादि में अहंभाव करना अहंकार है। ३ ब्रह्म में एकीभाव। ४ ब्रह्म को प्राप्त हुआ या ब्रह्म में एकीभाव से स्थित हुआ। ५ प्राणीमात्र में।

५५

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥

५६

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥

५७

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥

५८

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥

५९

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥

Jesus said unto him, Thou shalt love the Lord thy God with all thy heart and with all thy soul and with all thy mind.
—St. MATTHEW

५५

मैं कौन कितना, भक्ति से उसको सभी यह ज्ञान हो।
मुझमें मिले, मेरी उसे जब तत्त्व से पहिचान हो॥

५६

करता रहे सब कर्म भी मेरा सदा आश्रय धरे।
मेरी कृपा से प्राप्त वह अव्यय सनातन पद करे॥

५७

मन से मुझे सारे समर्पित कर्म कर मत्पर हुआ।
मुझमें निरन्तर चित्त धर, सम-बुद्धि[१] में तत्पर हुआ॥

५८

रख चित्त मुझमें, मम कृपा से दुःख सब तर जायगा।
अभिमान से मेरी न सुनकर, नाश केवल पायगा॥

५९

'मैं नहिं करूँगा युद्ध' तुम अभिमान से कहते अभी।
यह व्यर्थ निश्चय है प्रकृति तुमसे करा लेगी सभी॥

---

१ बुद्धियोग अध्याय २, ४९ में देखिये।

६०

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुंनेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ।।

६१

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ।।

६२

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ।।

६३

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ।।

६४

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ।।

उमा दारु योषित की नाईं ।
सबहिं नचावत राम गुसाईं ।।

—तुलसीदास

६०

करना नहीं जो चाहता है मोह में तल्लीन[1] हो।
वह सब करेगा निज स्वभावज[2] कर्म के आधीन हो॥

६१

ईश्वर हृदय में प्राणियों के बस रहा है नित्य ही।
*सब जीव यन्त्रारूढ़ माया से घुमाता है वही॥

६२

इस हेतु ले उसकी शरण सब भांति से सब ओर से।
शुभ शांति लेगा नित्य-पद, उसकी कृपा की कोर से॥

६३

तुझसे कहा अतिगुप्त ज्ञान समस्त यह विस्तार से।
जिस भांति जो चाहे वही कर पार्थ! पूर्ण विचार से॥

६४

अब अन्त में अतिगुप्त हे कौन्तेय! कहता बात हूँ।
अतिप्रिय मुझे तू अस्तु हित की बात कहता तात हूँ॥

---

१ मोह में पड़कर। २ स्वभाव से उत्पन्न। *यन्त्र पर चढ़े हुए सब प्राणियों को।

६५

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥

६६

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

६७

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥

६८

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥

६९

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥

…every one that heareth these sayings of mine, and doeth them not. shall be likened unto a foolish man, which built his house upon the sand.

—St. Matthew

६५

रख मन मुझी में, कर यजन[1], मम भक्त बन, कर वन्दना।
मुझमें मिलेगा, सत्य प्रण तुझसे, मुझे तू प्रिय घना॥

६६

तज धर्म सारे एक मेरी ही शरण को प्राप्त हो।
मैं मुक्त पापों से करूँगा तू न चिन्ता-व्याप्त[2] हो॥

६७

निन्दा करे मेरी, न सुनना चाहता, बिन भक्ति है।
उसको न देना ज्ञान यह जिसमें नहीं तप-शक्ति है॥

६८

यह गुप्त ज्ञान महान भक्तों से कहेगा जो सही।
मुझमें मिलेगा भक्ति पा मेरी, असंशय नर वही॥

६९

उससे अधिक प्रिय कार्य-कर्ता विश्व में मेरा नहीं।
उससे अधिक मुझको न प्यारा दूसरा होगा कहीं॥

---

१ पूजन। २ चिन्ता मत कर।

७०

अध्येष्यते च इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥

७१

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥

७२

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ॥

अर्जुन उवाच— ७३

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥

संजय उवाच— ७४

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥

नाथ सुने मम गत सन्देहा ।
भयउ ज्ञान उपजेउ नव नेहा ॥

—तुलसीदास

७०

मेरी तुम्हारी धर्म-चर्चा जो पढ़ेगा ध्यान से।
मैं मानता पूजा मुझे है ज्ञानयज्ञ विधान से॥

७१

बिन दोष ढूँढे जो सुनेगा नित्य श्रद्धायुक्त हो।
वह पुण्यवानों का परम शुभ लोक लेगा मुक्त हो॥

७२

अर्जुन! कहो तुमने सुना यह ज्ञान सारा ध्यान से।
अब भी छुटे हो या नहीं उस मोहमय अज्ञान से॥

अर्जुन ने कहा—

७३

अच्युत! कृपा से आपकी अब मोह सब जाता रहा।
संशय रहित हूँ सुधि मुझे आई, करूँगा हरि कहा॥

संजय ने कहा—

७४

इस भांति यह रोमाञ्चकारी[1] और श्रेष्ठ रहस्य भी।
श्रीकृष्ण अर्जुन का सुना संवाद है मैंने सभी॥

---

१ रोमाञ्च करनेवाला।

७५

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥

७६

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतं ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥

७७

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान् राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः ॥

७८

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षसंन्यासयोगो नाम
अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

They were astonished and said, whence hath this man, this wisdom and these mighty works?

—St. Matthew

७५

साक्षात् योगेश्वर स्वयं श्रीकृष्ण का वर्णन किया।
यह श्रेष्ठ योग-रहस्य व्यास-प्रसाद[1] से सब सुन लिया॥

७६

श्रीकृष्ण, अर्जुन का निराला पुण्यमय संवाद है।
हर बार देता हर्ष है, आता मुझे जब याद है॥

७७

जब याद आता उस अनोखे रूप का विस्तार है।
होता तभी विस्मय[2] तथा आनन्द बारम्बार है॥

७८

श्रीकृष्ण योगेश्वर जहां अर्जुन धनुर्धारी जहां।
वैभव, विजय, श्री, नीति सब मत से हमारे हैं वहां॥

अठारहवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ १८ ॥

ॐ तत्सत्

---

१ व्यास जी की कृपा से दिव्य दृष्टि द्वारा। २ आश्चर्य।

जानने योग्य
काम की बातें

धर्मक्षेत्र—

गीता का प्रारम्भ धर्मक्षेत्र से है। कर्म-क्षेत्र को धर्मक्षेत्र बनाने के लिये पुरुषोत्तम ने पुरुष को जो सन्देश दिया है, वही गीता है। गीता के सन्देश को आचरण में लानेवालों के लिये यह सारा संसार धर्मक्षेत्र और सारा जीवन—विजय, श्री तथा भगवान् की प्राप्ति करानेवाला पुण्यमय कुरुक्षेत्र बन जाता है।

कुरुक्षेत्र—

यह संसार कुरुक्षेत्र है। प्रत्येक प्राणी कुरुक्षेत्र की भूमि पर खड़ा है और उसके भीतर-बाहर निरन्तर युद्ध हो रहा है। मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन युद्धमय है। युद्ध के बिना कोई आध्यात्मिक और भौतिक विजय नहीं मिलती।

कर्त्तव्य-पालन की बाधाओं से निरन्तर युद्ध करना ही स्वधर्म है। आलस्य, मोह, मिथ्याचार, कामचोरी और विकार, जीवन के शत्रु हैं। गीता इनसे निरन्तर युद्ध करने का आदेश देती है।

संसाररूपी कुरुक्षेत्र में विजय पाने के लिये परमेश्वर ने जीव को मनुष्य-देह दी; बुद्धि, बल, कर्म का अधिकार दिया और अपनी परमकृपा से आगे बढ़ाया। मनुष्य संसार में आया— हँसा-खेला, भयभीत हुआ—रोया और जीवन का मार्ग खोजने लगा। कुछ माया और गुणों के खिलौनों से खेलने लगे, अपने ध्येय, पथ और परमेश्वर से बिछुड़ कर अनायास ही शत्रु के

हाथों मारे गये। कुछ अपने साथी पुरुषोत्तम का सहारा लेकर उठे, संकट के समय उनसे सहायता की याचना की और अपने मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार के चारों घोड़ों की बागडोर परमेश्वर के तारक हाथों में सौंप दी। मनुष्य जैसा चाहता है, भगवान् वैसा ही करते हैं, परन्तु प्रत्येक अवस्था में कर्म मनुष्य को ही करना पड़ता है। कर्मक्षेत्र में अनेकों भय, संकट और भीष्म-जैसी भीषण बाधायें सामने आती हैं। ऐसे समय में परमेश्वर अपनी अतुलित शक्ति से भक्त की रक्षा करते हैं, उसका उत्साह बढ़ाते हैं और उसे फिर साहस देकर कुरुक्षेत्र की भूमि पर प्रगति करने का सत्य, शिव और सुन्दर सन्देश देते हैं।

मोह और प्रज्ञावाद—

कर्म के मार्ग में असावधानी और अहंकार से धीर-वीर भी मोह में पड़ जाते हैं। अभिमान का सिर सदैव नीचा रहता है। अहंकार मोह में बदल जाता है और तब अर्जुन की भांति पुरुष का पराक्रम आंसू बनकर बह निकलता है, वह मोह में भूला हुआ स्वधर्म के पथ से भ्रष्ट और किं-कर्तव्य-विमूढ होकर प्रज्ञावाद की बातें करता है। कर्महीन ज्ञान प्रज्ञावाद है। प्रज्ञावादी केवल बातें बनाते हैं। बुद्धिमान् चिन्ताओं को छोड़कर कर्म करते हैं।

शरणागति—

अपनी प्रत्येक इच्छा कामना और वस्तु, भगवान् को सौंप देना समर्पण है। आत्म-समर्पण अथवा शरणागति का महा-भाव सरल निर्मल और निष्कपट हृदय में उमड़ता है। परमेश्वर

के स्पर्श में रहना, उनकी प्रेरणा से उनकी प्रसन्नता के लिये राग, द्वेष, भय, क्रोध और विकारों को छोड़कर उन्हीं के शिव-मार्ग पर चलना शरणागति का भाव है। आत्म-समर्पण करनेवाला शरणागत, अपनी इन्द्रियों को भगवान् के चरणों पर सुमनों की भांति चढ़ा देता है, अपने मनोभावों की माला गूंथ कर मनुष्य-मात्र के गुरु पुरुषोत्तम के गले में डालता है, अपने सात्त्विक कर्मों से उनका अर्चन करता है और अपने आपको ही गुरु-दक्षिणा में दे डालता है। ऐसे शरणागत शिष्य को परमेश्वर गीता के रूप में गुरुमन्त्र देते हैं।

शरणागत के हृदय में बैठकर मंद-मंद मुस्काते हुए भगवान् जब अपना कार्य करते हैं, तभी उनकी वाणी सुन पड़ती है।

आत्मा—

देह और इन्द्रियों को चेतना और प्रकाश देनेवाला आत्मा है। शरीर-रथ पर जब तक आत्मारूप परमात्मा बैठता है तभी तक वह सुरक्षित रहता है। आत्मा कभी मरता नहीं, आत्मा अमृत है, अविकारी, निर्भय और ज्योतिर्मय है। आत्मा के समान अलिप्त आनन्दमय, तेजस्वी और निर्दोष जीवन जीना आत्मज्ञान है। आत्मवान् के रोम-रोम से उत्साह और आनन्द छलकता है; आत्मा की शक्ति से वह जीवन को सर्वाङ्गपूर्ण सुन्दर सत्य और शिवरूप बनाता है।

आत्मा के प्रकाश में द्वन्द्व, असद् भाव, योग-क्षेम की चाह-चिन्ता और राग-द्वेष आदि विकारों का अन्धेरा नहीं ठहरता।

आत्मज्ञानी केवल ज्ञान की चर्चा करके नहीं रह जाता, वह शास्त्र और कला का योग करके सावधानी से कर्म का अलख जगाता है।

कर्म—

आत्मा का ज्ञान उसे होता है जिसके जीवन का मूल-मन्त्र कर्म बन जाता है। कर्म-जगत् में आगे बढ़ना ही जीवन है। कर्महीन की कीर्ति, सुख और स्वर्ग नष्ट हो जाते हैं। कर्म की कुशलता उसमें जागती है जो अपनी प्रत्येक कल्पना, कामना और वृत्ति को भगवान् के अर्पण कर देता है। किसान गहरा बोकर जल देता है तो झम्पा-झूलती खेती लहराती है, वैसे ही परिश्रम से गहरे कर्म किये जायें और भक्ति-प्रेम का जल दिया जाय तो जीवन की खेती हरी-भरी रहती है। कर्म का मार्ग बाधाओं से भरा पड़ा है, मन कहीं शान्ति नहीं पाता, परन्तु परमेश्वर से मिली प्रसन्नता के सामने कोई बाधा नहीं ठहरती। कर्म में प्रसन्नता भगवान का वरदान है। निराशा, उदासी और मलिनता संसार की मार है। उत्साह, सावधानी, प्रेम और प्रसन्नता से अंधेरे में भी उजाला होजाता है और सम्पूर्ण जीवन सुख से भर जाता है।

जिसकी बुद्धि स्थिर है, भूलों और भ्रमों को काट देती है, चंचलता के साथ नहीं खेलती, विकारों में नहीं बहती, वही कर्म-योगी, गुणातीत और स्थितप्रज्ञ है, उसके निश्चय का मेरुदण्ड कभी झुकता नहीं, कर्म की समाधि लगाकर वह सारी उलझनों को सुलझा लेता है। उठती हुई लहरों की भांति वह कर्म करता है, संकटों की चट्टानों को तोड़कर निरन्तर आगे बढ़ता है।

कामना, ममता और अहंकार को छोड़कर कर्म करता हुआ वह परम सुख की ब्राह्मीस्थिति को पा लेता है। कर्म का ध्यान परमेश्वर का ध्यान है। कर्म के लिये अर्जुन ने गांडीव उठाया। श्रीकृष्ण एक क्षण भी हाथ पर हाथ रखकर नहीं बैठे; गायें चरायीं, संतों के चरण पखारे, भक्तों के घोड़े हांके और पीताम्बर में भर-भर कर घोड़ों को दाना खिलाया।

आलसी मनुष्य भगवान् को नहीं पा सकता। कर्म से बचने का विचार भी कायरता और अपराध है। जब तक संसार तब तक व्यवहार। कर्म के बिना जीवन नहीं है और बे-मन से कर्म करना मिथ्याचार है।

कर्म हमारे जीवन का नारा हो, स्वदेश में कर्म का अलख जागे। कर्म का सूर्य निकलते ही दुर्भाग्य की घटायें छिन्न-भिन्न हो जायेंगी, हृदय-कमल खिल जायेगा और भाग्योदय की वेला द्वार खटखटायेगी।

यज्ञ-कर्म—

छल-कपट छोड़कर सच्चे हृदय से ईश्वर-अर्पण किया हुआ कर्म यज्ञ-कर्म है। दैवी सम्पत्ति को बढ़ाना, बांटना, एक-दूसरे के काम आना, पापों तापों से छूटना और जीवन की कमी पूरी करना यज्ञ है। खेती, व्यापार, नौकरी सभी यज्ञ हैं, यदि इनमें सत्य, सेवा, सदाचार और प्रेम है। जीवन को यज्ञ बना कर कर्मों की आहुति डालने से देवता प्रसन्न होते हैं। यज्ञ में गीता के निष्काम कर्म, भक्ति और ज्ञान का समन्वय है।

भक्ति—

मन, वचन और कर्म को एक करके ईश्वर-अर्पण बुद्धि से कर्तव्य-पालन करने का नाम भक्ति है। बुद्धि-योग-पूर्वक किये हुए कर्म से भक्ति की साधना होती है। ज्ञान-सहित भगवान् को पाने के निरन्तर अभ्यास से भक्ति दृढ़ होकर जब कर्म में उतरती है तभी भगवान् के विश्वरूप का दर्शन होता है।

योग, दान, यज्ञ, तप, अध्ययन आदि साधनों से भक्ति की सिद्धि होती है। समदर्शन, समव्यवहार अथवा आस्तिक-साम्य-वाद से जब भक्त चराचर में सत्य और सुन्दरता की दोनों आंखों से परमेश्वर को देखता है, तब दिव्यदृष्टि का शिव-नेत्र खुलता है।

जो परमेश्वर के लिये हृदय से कर्म करता है, प्रत्येक समय, प्रत्येक प्राणी में परमेश्वर को देखता है, प्रेम सहित निःस्वार्थ भाव से मानवमात्र की सेवा में लगा रहता है, किसी से वैर-विरोध नहीं करता और किसी में आसक्त नहीं होता, वही भक्त है।

भक्ति—जीवन में सावधानी, तत्परता, कुशलता, त्याग, प्रेम और सम्पूर्ण दैवी गुणों को भरती है। दैवी गुणों को प्राप्त करने के लिये ईश्वर-भाव में जमकर जो कुछ किया जाता है वह भक्ति है।

अभ्यास और वैराग्य—

निर्भयता, दृढ़ता और साहसपूर्वक सत्य को न छोड़ने का आग्रह करना अभ्यास है। अभ्यास के मार्ग की बाधाओं से

भयभीत न होना, किसी प्रलोभन से अभ्यास न छोड़ना और बुराइयों से असहयोग करना वैराग्य है।

त्याग—

स्वार्थ-कामना और वासनाओं को छोड़ देने का नाम त्याग है। त्याग में मोह और आसक्ति नहीं रहती। परम पुरुषार्थ और सावधानी से किया गया कर्म जब प्रसन्नता, उत्साह, प्रेम, शान्ति तथा सेवा से भर जाता है, तब आसक्ति का अन्त होता है और त्याग का प्रारम्भ। त्याग से शान्ति के द्वार खुल जाते हैं।

कर्म, संसार अथवा किसी वस्तु को त्यागने से त्याग नहीं होता—आसक्ति और कामना न रखने से त्याग होता है।

संन्यास—

दिन-रात कर्म करके प्रसन्न और अभिमान-रहित ऐसे रहना जैसे कुछ न किया हो—कर्मयोग है और करने को कुछ न रहने पर भी इस प्रकार करना जैसे सब कुछ करना है—संन्यास है। संन्यासी अपनी उपस्थिति मात्र से कर्म की प्रेरणा देता है।

ज्ञान के सहारे असंग होकर कर्म करनेवाला नित्य संन्यासी है। संन्यासी को कुछ करना शेष नहीं रहता। अपने तप, त्याग और उज्ज्वल चरित्र से वह सूर्य की भांति सबको जगाता है।

जिसकी आकांक्षायें शान्त हो गयी हैं, जो राग और द्वेषों में नहीं पड़ता, जिसे अपने आस्तिक भाव के कारण योगक्षेम की चाह और चिन्ता नहीं रहती, वही संन्यासी है।

जहां कर्म, भक्तिमय बन जाता है और ज्ञानपूर्वक होता है वहीं गीता का धर्मक्षेत्र है! धर्मक्षेत्र में सम्पूर्ण श्री, समृद्धि, ज्ञान-विज्ञान, विजय और नीति निवास करती हैं।

卐